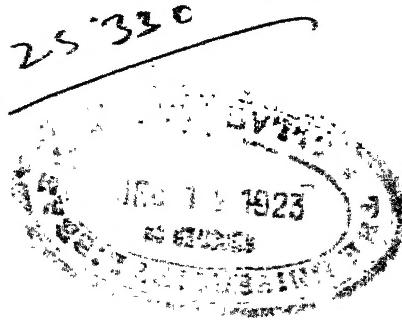
SHYAMA CHARAN SANSKRIT SERIES No.

THE

BRAHMOPANISAT-SARA SANGRAHA

श्रीब्रह्मोपनिषत्सारसंग्रहदीपिका



PUBLISHED BY

SUDHÎNDRA NÂTHA VASU

FROM THE PAṆINI OFFICE, BHUVANESWARÎ ÂŚRAMA, BAHÂDURGANJ,

ALLAHABAD

PRINTED BY APURVA KRISHNA BOSE, AT THE INDIAN PRESS,

1916

FOREWORD.

Shortly after the annexation of the Punjab, Babu Syâmâ Charana Basu went to, and settled in, Lahore ; and, after serving a couple of years as Headmaster of the American Mission School there, entered Government service. When the Educational Department was established in the Punjab, he was selected to fill the important post of Head Clerk. It was in that capacity that he had to organise that department, and worked hard for the spread of Education in that province. He zealously promoted the cause of Female Education to which Sir Robert Montgomery, on the eve of his retirement from the office of Lieutenant-Governor of the Punjab, bore testimony as follows :—

"Baboo Syama Charan of the Educational Department has always zealously supported the cause of Female Education. In testimony of which I give him this. I trust he will rise still higher in his own department. This certificate has been unsolicited by him.

January 9th, 1865. (Sd.) R. MONTGOMERY."

Sir Donald McLeod, who succeeded Sir Robert Montgomery, was a renowned Oriental Scholar. He wanted to orientalise Education in the Punjab, and wrote a letter to that effect to the Directer of Public Instruction. It was due to Babu Syama Charana's influence that the Punjab was saved that calamity. The Lieutenant-Governor's letter was, however, at his suggestion, forwarded to the *Anjuman-i-Punjab*, a literary Society, that was, through his and Dr. Leitner's exertions, brought into existence. It was at a meeting of this Society, that he suggested the formation of an institution which took the shape of the Punjab University.

On his death, which occurred in August 1867, at the early age of forty, the *Indian Public Opinion*, which was, at that time, conducted by Sir Lepel Griffin and Dr. Leitner, paid a tribute to his memory as follows :—

"We deeply regret to hear of the death of Babu Syama Charan Bose, one of the most enlightened and respectable members of the excellent Bengali Colony, which we have in our midst at Lahore. The deceased gentleman took considerable interest in all matters affecting the welfare of his adoptive country and, together with other Bengalis, threw himself actively into all movements which some time ago reflected credit on this province. He was a Vedantist by persuation, a most amiable man and an accomplished English scholar. As Head Clerk of the Educational Department, much of the credit assigned to its chief deservedly belongs to the well-known native gentleman, whose loss, we are sure, is sincerely felt in the community to which he belonged."

Rai Bahadur Sris Chandra Basu, District and Sessions Judge, U. P., and Major B. D. Basu, I. M. S. (Retd.), have started the present Series of Sanskrit texts, and inscribed the same to the memory of their father. The publication has been entrusted to the Panini Office.

MANAGER, PANINI OFFICE.

विज्ञापनम्

पुरा पंचनदेषु इंग्लंडाधीश्वरेण विजितेषु तत्र प्रतिष्ठिते च तदुदारशासने, प्रजानामुपचिकीर्षया प्रधाननगरे लवपुरे शिक्षाविस्ताराय राजकीयो शिक्षाविभाग आस्थापितः। महती च तस्य धूर्महाधुरंधरे गुणशालिनि श्रीश्यामाचरणवसुमहोदये विचिक्षिपे गुणपक्षपातिभी राजपुरुषैः। तेन च महाभागेन शिक्षाविभागं सर्व्वथैव संवर्द्धयता पंचनदेषु विश्वविद्यालयस्थापनस्य प्रस्तावः समुत्थापितः तस्मिंश्च प्रदेशे देवभाषासमुन्नति-स्त्रीशिक्षाविस्तार-भारतीयधर्म्मप्रवृद्धि-तत्परः सफलप्रयासश्च, स्वयमपि वेदान्ततत्त्वनिष्णात-निर्म्मलहृदयः बहूनुपाकरोत्। मनस्विनश्च तस्य पितृचरणानुरागिणोस्तद्गौरवानुप्राणितयोः पुत्रयोः ज्यायान् वाणीशोऽपि श्रीमान्-श्रीशचंद्रः बहुभाषाभिज्ञः शास्त्रपारंगतः स्वगुणग्रामार्ज्जितरायबहादुरोपाधिः अधुना बदायूँस्थप्रादेशिकन्यायासनमलंकरोति परमवैदान्तिकः। कनीयाँश्च आई-एम्-एस-पदभूषितः संलब्धमेजरोपाधिकः समाप्तराजकार्यकालः सानुवादहिन्दूशास्त्रग्रन्थसम्पादको ज्ञानप्रांशुः श्रीमान् वामनदासः। स चाधुना महता प्रयत्नेनामुद्राङ्कितानि दुर्लभप्रायाणि हस्तलिखितानि गीर्वाणवाणीपुस्तकानि संगृहीत्य **श्रीश्यामाचरण-संस्कृत-ग्रंथावलि**-नाम्ना मुद्रापयितुं प्रकाशयितुं च समारब्धवान्।

तस्याः श्रीश्यामाचरण-संस्कृतग्रंथावल्या—

इयं तृतीयो ग्रन्थः—

इति

व्यवस्थापकः

पाणिनिकार्यालयः।

शुद्धिपत्रम्

पत्रम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१६	सुर्य्या	सूर्य्यौ
४	१२	तत् दु	प्र
६	६	भासते	भासयते
९	१३	रहित	रहितः
१४	७	सम्या	सम्यग्
१७	११	तैले	तैलं
२०	२८	निर्गा	निर्गो
२२	२१	क	कृ
३५—१०		र्य्येषु सर्वं	वं येषु सत्यं
३५	१७	सत्यं	असत्यं
३५	२१	सुर्य्य	सूर्य्ये
३६ अधस्तात्	७	सयोहवै	स यो ह वै
३७	७	पि निर्वाच्यः	अनिर्वाच्यः
३९	७	पि	प्य
११	६	धीर्य्य	धैर्य्य
,, अधस्तात्	८	मोह	मोहा
,, ,,	१	न्द्रि	न्द्र
४०	५	व्योमम्	व्योमन्
,,	१६	द्यौ	द्यौः
,, अधस्तात्	१	तरे	तरं
,, ,,	,,	अनेक	अनेकं
४१	८	ववतृ	वक्तृ
४४	७	श्रुतेः	श्रुते ॥
,,	९	न्वति	मतिं
,,	,,	जिहे	जिह्वेम
,,	११	नास्य	नान्य

सानुवाद

श्री ब्रह्मोपनिषत्सारसंग्रहदीपिका।

भूमिका

यह ब्रह्मोपनिषत् सारसंग्रहदीपिका पहले ही पहल छप रही है। न इस का मुद्रित संस्करण देखने में आया था, न एक पोथी छोड़ के दूसरी हाथ में आयी। जिस के आदर्श पर यह सानुवाद ग्रन्थ छापा जाता है, वह पुस्तक गंगोत्री की यात्रा में उत्तर-काशी के तीर्थ में मिली थी। वहाँ के स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी ने जिनका लाट स्वामी इस नाम से भी परिचय मिला था कृपा पूर्वक इस का उपहार दिया था। उसी क्षण यह सङ्कल्प मन में पैदा भया कि इस प्रतिग्रह का परिशोध तब ही होगा जब स्वामीजी के हाथ पर एक मुद्रित ब्रह्मोपनिषत्सारसंग्रहदीपिका पुस्तक अर्पण किया जायगा।

"ब्रह्मकृपा हि केवलम्"। आज उनकी कृपा से वह मनोरथ पूर्ण होने को है। बड़े आनन्द की बात है कि न केवल शुद्ध मूल ही मूल का प्रत्युपहार दिया जायगा, पर सूद सहित दिया जायगा। वह सूद का स्वरूप हिन्दी अनुवाद है।

अंग्रेज़ी में भी अनुवाद अंग्रेज़ी जानने वालों के लिए स्वतन्त्र छप गया है।

आशा की जाती है कि इन दोनों सानुवाद संस्करणों से बहुतेरे ब्रह्म-विद्या के जिज्ञासुओं को लाभ पहुँचेगा।

प्रयाग के "हिन्दू-शास्त्र-ग्रन्थमाला" (Sacred Books of the Hindus) के प्रकाशक पाणिनीय कार्यालय (Panini Office, Allahabad) की अध्यक्षता से इन संस्करणों का प्रकाश हुआ है।

जैसे विष्णुपुरीजी ने भक्तिरत्नावली का संग्रह कर के कान्तिमाला नाम की एक टीका भी रच डाली थी, वैसे ही सम्भव है कि उपनिषत्-सार-संग्रहकार और दीपिका-कार भी कदाचित् एक ही हैं।

उपनिषत्-सार के पाठकों के मन में कदाचित् जिज्ञासा आवे कि उपनिषदों का सार तो पढ़रहा हूँ, पर यह उपनिषद् शब्द का अर्थ क्या है ? क्यों यह नाम पड़ा ? तो इसी प्रसङ्ग से कुछ लिखा जाता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति कोशों में ऐसी पाई जाती है।

उप+नि+सद्+क्विप् प्रत्यय से शब्द बना है। सद् धातु के कई प्रकार के अर्थ हैं।

उपसर्ग के योग से अर्थ-विशेष की प्राप्ति होती है।

विशरणार्थक सद्धातु से तो यह अर्थ होगा कि जिस विद्या से अज्ञान का नाश होता है उस का नाम उपनिषद्-विद्या। अथवा—

जिस से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है उस अध्यात्म-शास्त्र का नाम उपनिषत् है। अथवा, समीप में बैठ कर एकान्त में गुरु-शिष्य का ब्रह्म-विचार-रहस्य जिस में है वह शास्त्र। ऐसे कई एक अर्थ पाये जाते हैं।

वेद के दो मुख्य विभाग माने जाते हैं। एक कर्म्मकाण्ड, दूसरा ज्ञानकाण्ड कर्म्मकाण्ड-विचार जिस शास्त्र में है उसे पूर्वमीमांसा कहते हैं। ज्ञानकाण्ड का विचार जिस में है उसे उत्तरमीमांसा कहते हैं॥

उपनिषदों में ब्रह्मसूत्र में और गीता में इस ज्ञानशास्त्र का खूब विचार भया है। इस शास्त्र की प्रसिद्धि वेदान्त नाम से भी है, क्योंकि वेद के उत्तर भाग में ज्ञानकाण्ड का विचार भया है। इस वेदान्त को अधिगम करने के लिये उपनिषदों का ब्रह्मसूत्र का और गीता का अध्ययन होता है इन्हीं तीनों के समाहार की संज्ञा प्रस्थानत्रयी है।

आदौ उपनिषद्, फिर ब्रह्मसूत्र; अन्त में गीता। बादरायण-कृत सूत्रों में उपनिषदों में जो महावाक्यादि दे आये हैं उनका युक्ति-पूर्वक विन्यास और विचार है।

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाने के लिए जो शिक्षा
का निचोड़ है।

इसी से गीता की प्रसंशा में यह कहा गया है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतम्महत् ॥

सब उपनिषद् गौ हैं। श्री कृष्ण दुहने वाले हैं। अर्जुन बछड़ा है। गीता रूप अमृत को दुहा गया, इसको विद्वान् पीते हैं।

उपनिषदों की संख्या बहुत है। किसी मत में ११८० है।

ऋग्वेदीय उपनिषद्	...	...	...	...	२१
यजुर्वेदीय	...	...	...	...	१०९

सामवेदीय	...	...	...	...	...	१०००
अथर्ववेदीय	...	...	...	...	...	५०
						११८०

पर ये सब नहीं मिलते। १०८ उपनिषदों के नाम मुक्तिकोपनिषद् में दिये हैं। १०८ उपनिषद् देवनागरी के अक्षरों में छप भी गये हैं।

मुख्य कई एक उपनिषदों पर श्री शङ्कराचार्य्य जी ने भाष्य लिखा है।

यथा—

ऋग्वेदीय	ऐतरेय
यजुर्वेदीय	ईशावास्य
,,	कठवल्ली
,,	तैत्तिरीय
,,	श्वेताश्वतर
,,	बृहदारण्यक
सामवेदीय	केन
,,	छान्दोग्य
अथर्ववेदीय	मुण्डक
,,	माण्डूक्य
,,	प्रश्न

इनके सिवा कैवल्य, ब्रह्मबिन्दु, नृसिंहतापिनी, नारायण, मैत्रायणी, उपनिषदों पर भी शङ्कराचार्य्य के भाष्य गिने जाते हैं।

कोई शिष्य अपने बनाये ग्रन्थों को गुरु के नाम से प्रसिद्ध कर देते हैं। सम्भव है कि जितने भाष्य शङ्कराचार्य्य जी के नाम से गिने जाते हैं सब उनके बनाये न हों।

ऐसे कुछ नये रचित लेखों की भी उपनिषद् के नाम से प्रसिद्धि हो गई है, जो स्पष्ट आधुनिक हैं। यथा "अल्लोपनिषद्" यह मुसलमान बादशाहों के समय का रचा जान पड़ता है। ऐसी किम्वदन्ती है कि दक्षिण देश का एक पण्डित दिल्ली में बादशाह का दरबारी पण्डित बनाया गया था। उसका नाम शेख़ भावन था। वह मुसलमान हो गया था। अपने को निन्दा से बचाने के लिए और दूसरे पण्डितों को अपने साथी करने के उद्देश्य से शेख़ भावन ने एक अल्लोपनिषद् बना डाला। लुप्त उपनिषदों मे का यह भी एक माना गया। इसी तरह जब जिसका जी चाहा उसने उपनिषद् बना ली।

अब और एक बात की जिज्ञासा पाठकों के चित्त में आ सकती है। हाँ, मुख्य उपनिषदों का प्रामाराय तो सब लोग मानते हैं। तत्त्वमस्यादि महावाक्यों को असल वेदान्तर्गत स्वीकार करते हैं। फिर सम्प्रदाय बहुत क्यों देख पड़ते हैं?

कारण यह है। विद्वानों की समझ और रुचि के अनुसार महावाक्यादिकों का अर्थ भिन्न भिन्न तौर से होने लगा। इसी से कई एक सम्प्रदाय खड़े भये।

मुख्य तीन वेदान्ती सम्प्रदाय हैं। अद्वैतवाद, विशिष्टद्वैतवाद और द्वैतवाद॥

अद्वैतवाद-सर्वं खल्विदं ब्रह्म-तत्त्वमसि-अहं ब्रह्मास्मि।

इत्यादि महावाक्यों पर जो मत श्री शङ्कराचार्य्य ने चलाया उसको अद्वैतवाद कहते हैं। उस वाद का निष्कर्ष यह है। "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम्"। केवल ब्रह्म ही सत्य है। जो व्यक्त जगत् देख पड़ता है सो मिथ्या है। जीव और ब्रह्म एकही है।

इस वाद के प्रवर्त्तक श्री शङ्कराचार्य्य जी का जन्म दक्खिन में मलावार प्रदेश में अब से १२०० वर्ष के लगभग समय में हुआ था। विद्वान् लोग कहते हैं कि इन्हीं के तर्क के प्रभाव से बौद्धों की जड़ भारत वर्ष से उखड़ गई। इन्होंने दिग्विजय करते हुए सेतु-बन्ध से कश्मीर तक वेदान्त की जय-पताका उड़ाई। मुख्य उपनिषदों का,वेदान्त-सूत्रों और गीता के भाष्य की रचना की। हिमालय में बद्रीनाथ जी के मन्दिर के कुछ इधर जो जोशीमठ नाम से अब तक प्रसिद्ध है, सो उन्हीं का प्रतिष्ठित वेदान्त-पीठ है। और भी तीन पीठ स्थापित किये। जगन्नाथपुरी द्वारकापुरी और शृङ्गेरी में।

शङ्कराचार्य्य के प्रवर्तित इस जगन्मिथ्या वाद का दूसरा नाम मायावाद है।

इस जीव-ब्रह्म का अभेद वाद और मायावाद सब आस्तिक विद्वानों को नहीं रुचा। कोई २०० वर्ष परे श्रीरामानुजाचार्य्य इसके विरोधी खड़े भये। इन्होंने बौद्धायनादि पूर्वाचार्य्यों के मत को पुष्ट कर दूसरा वाद चलाया, जिसका नाम अब विशिष्टाद्वैत है। इनका सिद्धान्त यह है।

चित् (जीव) अचित् (जड़) और ईश्वर तीनों सत्य हैं चित् और अचित् ब्रह्म का शरीर है। ब्रह्म शरीरी है। प्रकृति और पुरुष मिल के एक ब्रह्म है। जैसे चना एक और उसमें दो दाल हैं। दोनों मिल कर एक चना बनता है। इसी तरह प्रकृति पुरुष और ब्रह्म भिन्न भी हैं एक भी हैं। इसी से विशिष्टाद्वैत नाम पड़ा है।

श्रीरामानुजाचार्य्य के वेदार्थ-संग्रह में यह श्लोक आया है।

वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः। भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः।

अब वासुदेव इस नाम का क्या अर्थ है। सर्वत्र वसति इति वासुः। वासुश्च असौ देवश्च वासुदेवः।

सर्व व्यापक सर्वभूतान्तरात्मा स्वयंप्रकाश परमात्मा का नाम वासुदेव। वे सब कल्याण के आकार हैं। सब लोक के उपादान कारण हैं। अर्थात् सब लोक उन्हीं के शरीर से निकले हैं। वही कर्त्ता हैं। अर्थात् उन्होंने गढ़ा भी है। इसी लिए वे उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं।

जीवों के नियामक हैं। बिना नियामक के सृष्टि चल नहीं सकती। अतः नियामक वेही हैं।

भगवत्प्रसाद से जीव जब परम गति को प्राप्त होता है तब भगवान् में लीन होकर एक रूप हो जा सकता है॥

श्री रामानुज भी दक्खिन में मदरास के समीप प्रदेश के थे।

द्वैत वाद—

पर द्वैत वादी यह ऐक्य नहीं मानते हैं। उनके मत में ईश्वर और जीवका सदा भेद बना रहता है। वे महावाक्यों का अर्थ भी अपने अनुकूल लगाते हैं।

इस द्वैत वाद के प्रवर्त्तक भी उसी दक्षिखन देश के हैं। इनका नाम श्रीमध्वाचार्य्य था। ये श्रीरामानुज के परे पैदा हुए थे। शकाब्द ११२१ में इनका आविर्भाव हुआ था। इन तीनों-सम्प्रदायों का जन्म-स्थान दक्खिन में हुआ। वहीं से चारों ओर भारत-वर्ष में इनका विस्तार हुआ।

ब्रह्मोपनिषत्सार-संग्रह-दीपिका में जो श्रुतियाँ संगृहीत हैं उनकी दीपिका नाम टीका में सगुण उपासना की ओर झुकाव लक्षित होता है। ३१वी श्रुति में सगुण उपासना की अन्यतम विधि दी गई है। आत्म-समर्पण से बढ़ कर और क्या बलिदान जीव दे सकता है? सो जब जीव ने यह भेंठ चढाई तब वह मोक्ष-पद का अधिकारी हुआ। यही आत्मसमर्पण रूप यज्ञ है।

परा भक्ति और परम ज्ञान जाकर एक ही जगह मिलता है।

भक्त कहता है। मैं बिछुरा हुआ हूं। मुझसे विरह सहा जाता नहीं। ठाकुर जी! आप अपने में मुझे मिला लीजिये।

ज्ञानी कहता है। मैं भूला था। अपने को पृथक् समझा था, भला अब तो मालूम हुआ कि मैं भिन्न नहीं हूं। मैंने अज्ञानता से अपने को जुदा माना था। मैं कहाँ हूं? आप ही तो हैं। या कहिये मैं ही हूं। तो आप अलग कहाँ हैं। मेरी भूल चली गई। सो अन्ततो गत्वा फल एक ही मिला। आनन्द-प्राप्ति मुख्य उद्देश्य दोनों श्रेणियों के खोजियों का है।

अपनी अपनी रुचि के अनुसार साधक भिन्न भिन्न मार्ग को लेते हैं।

शिव महिम्नस्तोत्र में अच्छा कहा है। "रुचीनां वैचित्र्याहृजुकुटिलनानापथजुषाम्। नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥" अपनी रुचि के भेद से मनुष्य सीधी टेढ़ी राह को लेता है। पर जैसे सब नदियाँ घूम घाम कर समुद्र में जा पहुँचती हैं इसी प्रकार सब उपासक हे परमेश्वर आप ही को पहुंचते हैं।

ज्ञानी और भक्त दोनों को सकल वासना और अहन्ता के परित्याग करने का उपदेश है। बिना इनको त्याग किये संसार से मुक्ति कहाँ?

इन्हीं बातों का उपदेश ब्रह्मोपनिषत्सारसंग्रह में दिया गया है।

सनातन से यही विधान चला आया है। यह नव विधान नहीं है।

क्या उपनिषदों में, क्या गीता में ; वही उपदेश है।

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवम्विधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परतंप॥

गीता ११। ५४

श्रीः

श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीब्रह्मोपनिषत्सारसङ्ग्रहदीपिका ।

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ॥ यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ इह खलु सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ॥ नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमित्यादिश्रुतिप्रतिपादितब्रह्मतत्त्वप्रद्योतक-सकलोपनिषत्सारब्रह्मविद्यासारसंग्रहश्रुतिसमुदायार्थज्ञातृबोधनाय यथामति दीपिका प्रद्योत्यते ॥ द्यां मूर्धानमिति ॥ :—

द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदंति खं वै नाभिं सोमसूर्यौ च नेत्रे दिशः श्रोत्रे यस्य पादौ चितिश्च ध्यातव्योसौ सर्वभूतान्तरात्मा ॥ १ ॥

असौ प्रकाशात्मा परमेश्वरः ॥ सगुणनिर्गुणस्वरूपतया व्यवस्थित इति ॥ ध्यातव्यो निर्णेतव्यः ॥ तत्रादौ सगुणात्मानं विवृणोति॥ असौ कथंभूतः सर्वभूतान्तरात्मा ॥ सर्वभूतानि चराचरात्मकं विश्वं अतः आत्मनि देहे यस्य । असौ कः । विप्रा वेदविदः यस्य ब्राह्मणाः द्यां स्वरितिमूर्द्धानं मस्तकं वदन्ति उपदिशन्ति । वदन्ति त्वनुवर्तनीयं । वै निश्चयेन खं नभ इति नाभिं । सोमसूर्यौ चन्द्रादित्यौ नेत्रे । दिशः श्रोत्रे कर्णौ । क्षितिश्च भूरिति यस्य पादौ वदन्ति । एवमेव चिद्रूपोत्तमाङ्गादिवर्णतया निर्गुणात्मानं वर्णयति । सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूतेषु, समस्तावयवांत आत्मा चिद्रूपतया संप्रतिष्ठित इत्यर्थः । १ ।

एतदेव पुनरपि सगुणनिर्गुणात्मव्याख्यानतयाऽन्या श्रतिर्दृढयति ।

हि निश्चये एष सकलकविविषयो नारायणः सर्वात्मकतया वरीवर्ति । एष कथंभूतः। सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूतानि बीजांकुरवदंतरात्मनि हृदये यस्य । अथवा सर्वभूतेषु अंकुरबीजन्यायेन चिद्रूपं यस्य तद्यथा । अस्येति संयोजयेत् । अग्निरस्य नारायणस्य मूर्द्धा मुखं भवति । चन्द्रसूर्यौ चक्षुषी भवतः । दिशः श्रोत्रे श्रवणे । वेदा ऋग्यजुःसामाथर्वणाः । अस्य वाग्विवृता वचनसमुदायो भवति । वायुरस्य प्राणः । विश्वं दृश्यादृश्यात्मकं स्थावरं जगमात्मकं च जगत् अस्य हृदयं । मनः सङ्कल्पविकल्पस्वरूपं भवति । पृथिवीपातालादिसप्तपुरवती भूमिः । पद्भ्यां अस्य चरणौ भवतः । एतल्लक्षणतया सर्वं ब्रह्मेति सिद्धमिति भावः । २ ।

अथेदानीमस्य सर्वभूतात्मनो ब्रह्मणः पूर्वापरदिग्भागा अपि ब्रह्मैवेत्याह श्रुतिः।

ब्रह्मैव वेदममृतं पुरस्तात्पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं तद्धि ब्रह्म ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥३॥

(मुण्डक २ । २ । ११ ।)

वेदं चिद्रूपं अमृतं कालाद्यपरिच्छिन्नं ब्रह्मैव पुरस्तात् अग्रतो भवति । पश्चादपि ब्रह्मैव । दक्षिणतश्च ब्रह्मैव । उत्तरतश्च ब्रह्मैव, अधश्च ब्रह्मैव । ऊर्ध्वं च ब्रह्मैव । अत्र दशदिङ्मध्येयत्प्रसृतं विस्तरः । तदपि ब्रह्मैव । हि निश्चये इदं सदसत् दृश्यादृश्यं चराचरम् स्थूलं सूक्ष्मं च विश्वमपि ब्रह्मैव । अनेन प्रकारेण ज्ञेयज्ञानं वरिष्ठं श्रेष्ठमित्यर्थः ॥

इदानीं ब्रह्मणः स्वरूपविषयमाह ।

बृहच्च तद्दिव्यमचिंत्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ॥
दूरात्सुदूरेण तदिहांतिके च पश्यंति हैव निहितं गुहायाम् ॥४॥

(मुण्डक ३ । १ । ७ ।)

तत्प्रसिद्धं ब्रह्म विभाति विशेषेण भासते । चकारः समुच्चयार्थः । तत्कथंभूतं बृहत्स्थूलम् । यदुक्तं देवस्तुतौ । द्युपतय एव ते न ययुरंतमनंततया । त्वमपि यदंतराण्डनिचया ननु सावरणा इति । दिव्यं स्वर्गादिकज्ञानेन किञ्चिदनुमेयम् अतएवाचिंत्यरूपं इत्येतयाऽपरिज्ञेयविग्रहम् । सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरम् परमाणुतोपि सूक्ष्मतरं अत्यंतसूक्ष्मम् । अथवा प्रणवोऽर्धार्द्धमात्रातोऽप्यणु । अनेन स्वरूपमुक्तं विषयं चाह । च पुनस्तदेव ब्रह्म दूरात्सुदूरेण अत्यन्तदूरमेव विभाति विराजते । यत इन्द्रियादिभ्योपि परतरं अगोचरं चास्ति । तदेव ब्रह्म इह प्रत्यक्षम् अन्तिके समीप एव यतस्तस्य चिद्रूपस्य सन्निधानतयाऽयोऽयस्कान्तमणिवज्जीवादिदेहावसानं सर्वं चेष्टते । ह निश्चये । ब्रह्मविदः तदेव ब्रह्म गुहायां निहितं कलेवरराजधानीमध्ये हृदयकमलासनोपविष्टं पश्यंति तदनुमापकैः तद्विधलक्षणतया निर्धारन्तीत्यर्थः । ४ ।

पुनरपि तस्य स्थितिमाह श्रुतिः ।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥५॥

(श्वेताश्वतर ६ । ११ ।)

तदेव ब्रह्म अकर्तृकत्वान्नपुंसकलिङ्गविषयम् कर्तृत्वाच्च पुँल्लिङ्गविषयम् । यतः अकर्त्ता च स्वभावेन कर्ता चैव स्वभावतः इति न्यायात् तदेव ब्रह्मास्ति । कथंभूतः देवः क्रीड़नकः कथं क्रीडति एक एवानेकीभूय दीव्यति । तथा चैकोहं बहुस्यामिति श्रुतेः । सर्वभूतेषु गूढः अनेकदेहावरणानि कृत्वोपविष्टः । कुत्रोपविष्ट इत्यत आह सर्वव्यापी खं वत्सर्वव्यापकः । सर्वव्याप्यपि सन्कुत्र तिष्ठतीत्यत आह सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूतानामाब्रह्मतृणपर्य्यन्तानां सकलदेहानामंतर्बहिरनुरोमं अंतरेव तिष्ठत्यात्मा स्वरूपं यस्य । कर्म्माध्यक्ष इत्यपि पाठे तु अयमर्थः उपाधिमधिष्ठाय तद्धर्मानीक्षते इत्यध्यक्षः भूतानां तत्कर्मणां तत्फलभोगानां च साक्ष्येव भवत्यात्मा निरवयवत्वान्निष्क्रियत्वाच्च स्वयं कर्म किञ्चिन्न करोति नापि भुंक्त इत्यर्थः । सर्वाध्यक्षः सर्वजनानामध्यक्षः अधिकारी सफलमनोरथालम्बकः । सर्वभूताधिवासः सर्वभूतानां समस्तजगतो निवासः ननु चेदीदृग्विधं ब्रह्म तदानुलिप्तं स्यात् तस्मात्तदपि बंधनविषयमेव नेत्याह यतः साक्षी यः कश्चित्साक्षिभूतो भवेत्सोऽनुलिप्तो भवेत् तस्मान्मुक्त एव सः ॥ ननु साक्षीमात्रत्वं कथं यतः चेता चिद्रूपः । अतएव केवल अनुलेपकारणदेहादिबुद्धिपर्यवसानसकलपदार्थव्यतिरिक्तः । अतएव निर्गुणः सत्वादिगुणातीतः । चकारः समुदायार्थः ॥५॥

ननु चैतद् ब्रह्म चिद्रूपादिगुणविशिष्टं तदानीं स्थूलादिशून्यान्तविश्वं कुतः प्रवृत्तन्तदाहश्रुतिद्वयम् ॥

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ॥
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥६॥

(मुण्डक २ । १ । ७ ।)

चकार एवकारार्थः तस्मात्प्रसिद्धाद् ब्रह्मण एव देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वरेन्द्रवह्नियमादयः बहुधा अनेकवर्णा अनेकगतयोऽनंतकर्माणः संप्रसूताः समुत्पन्नाः । तथैव साध्यादिदेवमनुष्यपशुपक्षिणश्च तस्मादेव जाताः । प्राणापानावित्युपलक्षणं अण्डजादिचतुर्विधसृष्टिचेष्टार्थं प्राणापानादिदशविधो वायुस्तस्मादेव समुत्पन्नः । व्रीहियवावित्युपलक्षणं एतादृशविश्वपरिरक्षणार्थं व्रीह्यादिकं बहुविधमन्नमपि तस्मादेव जातं । च पुनः तेषां भूतानां चलप्रकृतीनामेकत्र स्थित्यर्थं बलीवर्दगोदामवत्तपः श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यादिविधिश्चैतेषां विधानं च तस्मादेव जातमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे अस्मात् स्यंदंते सिंधवः सर्वरूपाः ॥
अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यंतरात्मा ॥७॥

(मुण्डक २ । १ । ९ ।)

अतो ब्रह्मणः समुद्रा अस्य जगतः परिभूषणार्थे समस्तरत्नाकराः तथैव गिरयः सुमेरु-हिमाचलादयः सुवर्णाद्याकरा अस्य जनस्य व्यवहारार्थं संजाताः । अस्माद् ब्रह्मण एव सर्वरूपाः सिंधवः नाम गुणविशिष्टा गङ्गादिसरितः अस्य जगतः पापादिशोधनार्थं स्वर्लोकप्राप्त्यर्थं च स्यंदन्ते । च पुनः अतो ब्रह्मणः सर्वा ओषधयः अस्य लोकस्य दुष्कृतकर्मफलभोगयथाप्राप्तबहुविधरोगनिवृत्त्यर्थं समुत्पन्नाः । अस्माद् ब्रह्मण एवास्य विश्वस्य सुकृतकर्मफलभोगार्थं मधुरादिषट्रसाश्च समुत्पन्नाः । ननु तद् ब्रह्म किमत आह येन हेतुना भूतैः कारणादिकार्यान्तैः पदार्थैस्तिष्ठंते जीवंत इत्यर्थः । ननु तद् ब्रह्म कुत्र वर्तत इत्यत्राह । अप्रच्छिन्नस्वरूपः सर्वेषां प्राणिनामंतरात्मा हृत्कमले.पर्युपविष्ट इत्यभिप्रायः ॥७॥

नन्वनेन ब्रह्मणा भित्तिरागलेखनीयुतचित्रकृच्चित्रवज्जगच्चित्रमुत्पादितं किं नेत्याह श्रुतिः॥

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गात्सहस्त्रशः प्रभवंते सरूपाः ॥
तथाक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायंते तत्र चैवापियांति ॥८॥

(मुण्डक २ । १ । १)

यथा सुदीप्तात्युत्कर्षेण प्रज्वलितात्पावकात् वह्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्निकणाः सहस्रशः अनेकशः प्रभवंति जायंते कथंभूताः सरूपाः कनककङ्कणादिवन्मृद्घटादिवच्च जलोर्मिवच्च तद्रूपाः तत्रैव लीयंते चेति शेषः । हे सौम्येत्येकवचनमुपलक्षणम् हे सत्वस्थिता लोकाः तथैवाक्षरादविनाशिनो ब्रह्मतत्वात् विविधा नाना प्रकारा भावा भूतानि तद्रूपाणि प्रजायंते तत्र चैव ब्रह्मतत्त्व एव च अपियांति लीयंत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्वद्भुतशक्तिमद्ब्रह्म कथं ज्ञेयमित्यत्राह ।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्शुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

(मुण्डक ३ । १ । ९)

एष आत्मा प्रत्यक्षरूपः स्थूलरूपः अणुश्च सूक्ष्मतमश्च अतएवाद्भुतस्वरूपं ब्रह्म चेतसा शुद्धमनसा वेदितव्यः यस्मिन् शुद्धमनसि प्राणः श्वासरूपो वायुः पञ्चधा प्राणापान समानोदानव्यानादिप्रकारैः संविवेशोपविष्टो भवति । यस्मिंश्च प्रजानां समस्तभूतानां-प्राणः श्वासः चित्तं शुद्धमशुद्धमतश्च उक्तं चोपनिषत्सु । मनोहि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धंचाशुद्ध मेव च । अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितमिति । सर्वशब्देन च दशविधकारणादि च ज्ञेयम् एतत्सर्वमोतप्रोतं तेनैव सर्वेषां प्रवृत्तिरिति भावः यस्मिन् विशुद्धे सति आदर्शे प्रतिबिम्बमिव एष आत्मा प्रकाशस्वरूपं ब्रह्माविर्भवति प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

नन्वेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादि श्रुतिसमुदाये न ब्रह्मण एकत्वमुक्तं चेदेवं तदुच्चनीचत्वं स्थूलसूक्ष्मत्वं चास्य कथमित्यत्राह ।

अग्निर्यथैको भवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव ॥
एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

(कठवल्ली ५ । ९ ।)

यथैको अग्निर्भवनं गृहं प्रविष्टो दाहको भवेत् तदा रूपं रूपं गृहस्योच्चनीचस्थूलसूक्ष्मस्थानान्येव रूपाणि तेषु तेषु प्रतिरूपस्तत्तदनुरूपो बभूव जायते तथैवैको नारायणः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूतेषु तिष्ठमानः रूपं रूपं अंतरुदारमनस्कतया बहिश्च गजमशकदेहेषु उच्चनीचजातिषु च प्रतिरूपस्तद्रूपस्ताद्दग्रूपश्च जातो भवतीत्यर्थः ॥१०॥

ननु सर्वव्यापको नारायणस्तदानुलिप्तः स्यादेव नेत्याह श्रुतिः ।

सूर्य्यो यथासर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यतेचाक्षुषैर्वाह्यदोषैः ॥
एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

(कठवल्ली ५ । ११ ।)

यथा सर्वलोकस्य चक्षुः यतश्चक्षुषामंतर्देवतारूपेण सूर्य्यो निवसति । तत्प्रकाशेन नेत्रं पश्यति अतएव सर्वलोकस्य चक्षुः सूर्यः चाक्षुषैर्नेत्रोद्भवैर्वाह्यदोषैः मांसरुधिराश्रुभिः अथवा पवित्रापवित्रपदार्थैर्न लिप्यते तथा सर्वभूतान्तरात्मैको नारायणो न लिप्यते यतः सर्वलोकानामध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपेण त्रिविधेन दुःखेन बाह्यः व्यतिरिक्तो मुक्त एवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु चेदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म तदा स्वर्गादिकं किं पृथग्भासते इत्यत्राह श्रुतिः ।

न च दिवो देवजनो न गोप्ता न चान्तरिक्षाणि न च भूमय इमा ॥
यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं च प्रोतं तस्मादन्यन्नपरं किञ्चनास्ति ॥१२॥

दिवः स्वर्महोजनस्तपः सत्यमिति स्वर्गलोकास्तस्माद्ब्रह्मणः पृथक् न संति न च तद्गोप्ता देवजनः तत् स्वर्गादिपालको ब्रह्मादिदेवगणाः पृथगस्ति न चान्तरिक्षाणि अनेकप्रकारत्वाद्बहुवचनम् भुवो लोकः पृथगस्ति । न चेमा भूमयः सप्तपातालसहितो भूर्लोकः पृथगस्ति किन्तु यस्मिन् ब्रह्मणि सर्वमिदं सकलं चराचरं देवतिर्यगादिरूपं जगत् ओतप्रोतं-च यथा पटः सूत्रतंतुभिरोतः प्रोतश्च नानाभिधानो जायते तद्वदनेकरूपाभिधानैर्ब्रह्मैव भातीति भावः अतः कारणाद्ब्रह्मणोन्यदिदं नास्ति अथैव तस्माद् ब्रह्मणः परं किञ्चन नास्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

ननु कीदृशं ब्रह्मास्तीत्यत आह ।

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमे विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः ॥
तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१३॥

(मुण्डक २ । २ । १० ।)

अतो ब्रह्मणः समुद्रा अस्य जगतः परिभूषणार्थे समस्तरत्नाकराः तथैव गिरयः सुमेरुहिमाचलादयः सुवर्णाद्याकरा अस्य जनस्य व्यवहारार्थं संजाताः । अस्माद् ब्रह्मण एव सर्वरूपाः सिंधवः नाम गुणविशिष्टा गङ्गादिसरितः अस्य जगतः पापादिशोधनार्थं स्वर्लोकप्राप्त्यर्थं च स्यंदन्ते । च पुनः अतो ब्रह्मणः सर्वा ओषधयः अस्य लोकस्य दुष्कृतकर्मफलभोगयथाप्राप्तबहुविधरोगनिवृत्त्यर्थं समुत्पन्नाः । अस्माद् ब्रह्मण एवास्य विश्वस्य सुकृतकर्मफलभोगार्थं मधुरादिषट्रसाश्च समुत्पन्नाः । ननु तद् ब्रह्म किमत आह येन हेतुना भूतैः कारणादिकार्य्यान्तैः पदार्थैस्तिष्ठंते जीवंत इत्यर्थः । ननु तद् ब्रह्म कुत्र वर्तत इत्यत्राह । अप्रच्छिन्नस्वरूपः सर्वेषां प्राणिनामंतरात्मा हृत्कमले.पर्युपविष्ट इत्यभिप्रायः ॥७॥

नन्वनेन ब्रह्मणा भित्तिरागलेखनीयुतचित्रकृच्चित्रवज्जगच्चित्रमुत्पादितं किं नेत्याह श्रुतिः॥

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गात्सहस्रशः प्रभवंते सरूपाः ॥
तथाक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायंते तत्र चैवापियंति ॥८॥

(मुण्डक २ । १ । १ ।)

यथा सुदीप्तात्दुकर्षेण प्रज्वलितातपावकात् वह्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्निकणाः सहस्रशः अनेकशः प्रभवंति जायंते कथंभूताः सरूपाः कनककङ्कणादिवन्मृद्घटादिवच्च जलोर्मिवच्च तद्रूपाः तत्रैव लीयंते चेति शेषः । हे सौम्येत्येकवचनमुपलक्षणम् हे सत्वस्थिता लोकाः तथैवाक्षरादविनाशिनो ब्रह्मतत्वात् विविधा नाना प्रकारा भावा भूतानि तद्रूपाणि प्रजायंते तत्र चैव ब्रह्मतत्त्व एव च अपियांति लीयंत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्वद्भुतशक्तिमद्ब्रह्म कथं ज्ञेयमित्यत्राह ।

एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्शुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

(मुण्डक ३ । १ । ९ ।)

एष आत्मा प्रत्यक्षरूपः स्थूलरूपः अणुश्च सूक्ष्मतमश्च अतएवाद्भुतस्वरूपं ब्रह्म चेतसा शुद्धमनसा वेदितव्यः यस्मिन् शुद्धमनसि प्राणः श्वासरूपो वायुः पञ्चधा प्राणापान समानोदानव्यानादिप्रकारैः संविवेशोपविष्टो भवति । यस्मिंश्च प्रजानां समस्तभूतानांप्राणः श्वासः चित्तं शुद्धमशुद्धमतश्च उक्तं चोपनिषत्सु । मनोहि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धंचाशुद्धमेव च । अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितमिति । सर्वशब्देन च दशविधकारणादि च ज्ञेयम् एतत्सर्वमोतप्रोतं तेनैव सर्वेषां प्रवृत्तिरिति भावः यस्मिन् विशुद्धे सति आदर्शे प्रतिबिम्बमिव एष आत्मा प्रकाशस्वरूपं ब्रह्माविर्भवति प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

नन्वेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादि श्रुतिसमुदाये न ब्रह्मण एकत्वमुक्तं चेदेवं तदुच्चनीचत्वं स्थूलसूक्ष्मत्वं चास्य कथमित्यत्राह ।

अग्निर्यथैको भवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव ॥
एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥
(कठवल्ली ५ । ९ ।)

यथैको अग्निर्भवनं गृहं प्रविष्टो दाहको भवेत् तदा रूपं रूपं गृहस्योच्चनीचस्थूलसूक्ष्मस्थानान्येव रूपाणि तेषु तेषु प्रतिरूपस्तत्तद्नुरूपो बभूव जायते तथैवैको नारायणः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूतेषु तिष्ठमानः रूपं रूपं अंतरुदारमनस्कतया बहिश्च गजमशकदेहेषु उच्चनीचजातिषु च प्रतिरूपस्तद्रूपस्ताहृग्रूपश्च जातो भवतीत्यर्थः ॥१०॥

ननु सर्वव्यापको नारायणस्तदानुलिप्तः स्यादेव नेत्याह श्रुतिः ।

सूर्य्यो यथासर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यतेचाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ॥
एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥
(कठवल्ली ५ । ११ ।)

यथा सर्वलोकस्य चक्षुः यतश्चक्षुषामंतर्देवतारूपेण सूर्य्यो निवसति । तत्प्रकाशेन नेत्रं पश्यति अतएव सर्वलोकस्य चक्षुः सूर्यः चाक्षुषैर्नेत्रोद्भवैर्बाह्यदोषैः मांसरुधिराश्रुभिः अथवा पवित्रापवित्रपदार्थैर्न लिप्यते तथा सर्वभूतान्तरात्मैको नारायणो न लिप्यते यतः सर्वलोकानामध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपेण त्रिविधेन दुःखेन बाह्याः व्यक्तिरिक्तो मुक्त एवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु चेदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म तदा स्वर्गादिकं किं पृथग्भासते इत्यत्राह श्रुतिः ।

न च दिवो देवजनो न गोप्ता न चान्तरिक्षाणि न च भूमय इमा ॥
यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं च प्रोतं तस्मादन्यन्नपरं किञ्चनास्ति ॥१२॥

दिवः स्वर्महोजनस्तपः सत्यमिति स्वर्गलोकास्तस्माद्ब्रह्मणः पृथक् न संति न च तद्गोप्ता देवजनः तत् स्वर्गादिपालको ब्रह्मादिदेवगणाः पृथगस्ति न चान्तरिक्षाणि अनेकप्रकारत्वाद्बहुवचनम् भुवो लोकः पृथगस्ति । न चेमा भूमयः सप्तपातालसहितो भूर्लोकः पृथगस्ति किन्तु यस्मिन् ब्रह्मणि सर्वमिदं सकलं चराचरं देवतिर्यगादिरूपं जगत् ओतप्रोतं च यथा पटः सूत्रतंतुभिरोतः प्रोतश्च नानाभिधानो जायते तद्वदनेकरूपाभिधानैर्ब्रह्मैव भातीति भावः अतः कारणाद्ब्रह्मणोन्यदिदं नास्ति अथैव तस्माद् ब्रह्मणः परं किञ्चन नास्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

ननु कीदृशं ब्रह्मास्तीत्यत आह ।

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमे विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः ॥
तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१३॥
(मुण्डक २ । २ । १० ।)

सूर्य्यः तत्र स्वप्रकाशे ब्रह्मणि सूर्याग्रे दीपवत् सूर्य्यादीनामभावत्वादद्वितीयत्वाच्च न भाति। एवमेव चन्द्रोडुगणो सौदामिन्यश्च न भाति यत्र सूर्य्यादयः प्रकाशस्वरूपा न भांति तत्र दार्वाश्रितोयमग्निः कुतो भासते। तमेव भांतं तद्ब्रह्मैव भांतं प्रकाशमानं अनुपश्चात्सूर्यानुसोमवत्सर्वं सूर्यादिकं भाति। एतद्विवृतिर्यथा तस्य ब्रह्मणो भासा तेजसा सूर्यादिवत् इदं सर्वं मायारूपेणध्वांततमसा वृतं स्थावरान्तं विश्वं विभाति विभागतया भासते इत्यभिप्रायः॥ ३॥ ननु न तद्भासते सूर्य इत्यनेन श्रीमद्भगवद्वाक्येन सूर्यादीनामपि तत्पृथक्सत्ता स्यादित्यनुमीयते नेत्याह श्रुतिः।

न तस्मात्पूर्वं न परं तदस्ति न भूतं नोतभव्यं यदासीत्॥
महत्पादेनैकमूर्धा च व्याप्तं स एवेदमावरीवर्ति भूतम्॥१४॥

तस्माद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं तन्न पूर्वमासीत् परमपि तन्नास्ति स्यात् यद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं भूतमपि नास्ति उत भव्यं भविष्यदपि न स्यात् अत्रैतदृढ़ीकरणार्थं पुनरुक्तम्। पुनः किमस्तीत्याह येन ब्रह्मणा महद्विस्तीर्णं विश्वं पादेनैकमूर्ध्ना च अध ऊर्ध्वञ्च व्याप्तं स एवेदं भूतं संपन्नं विश्वमावरीवर्ति आसमंताद् ब्रह्मादितृणावसानं तद् ब्रह्मैव वर्तते इत्यभिप्रायः॥ १४॥

ननु सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनेति श्रुतिवाक्ये चेत् सत्यम् तदा तत्सर्वेषां दर्शनग्रहणवचनविषयं किं न जायते इत्यत्राह श्रुतिः।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा॥
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तुतं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः
॥ १५॥

(मुंडकश्रुतिः)

तद्ब्रह्म चक्षुषा न गृह्यते दृश्यते यतोदर्शनः त्रिपुटीविषयः तत्र त्रिपुट्यभावाद् दर्शनाभावः। एवमेव नापि वाचा वर्ण्यते न चान्यैर्देवैरिन्द्रियैर्ज्ञायते न तपसा नियमैः न कर्मणा नित्यनैमित्तिककर्मणा वशीक्रियते। ननु पुनस्तत्केन लभ्यत इत्यत आह ज्ञानमेव भगवत्प्रसादः तेन विशुद्धसत्वो निर्मलमनस्को मानव इति शेषः ततस्तु तस्मादनन्तरं तं श्रीभगवंतं पश्यति सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति भासते कथंभूतः पुरुषः आदौ निष्कलं गुणातीतं ब्रह्म ध्यायमानश्चिन्तयान इत्यर्थः, तस्मादीदृग्ज्ञानी यः स परमानन्दनिमग्नः स्यादित्याह श्रुतिः॥१५॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं संच विचैति सर्वम्॥
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शांतिमत्यंतमेति॥१६॥

(श्वेताश्वतर ४। ११।)

य एक एव योनिं योनिं सकलदेहमध्ये तिष्ठति येन हेतुना इदं सर्वं विचरति चेष्टते यः सर्वः सर्वमयो भवति तं श्रीभगवन्तं ईशानं कर्तुमकर्तुं व्याकर्तुं समर्थं वरदं देवं क्रीड़कं

ईड्य' स्तुतियोग्यं निचाय्य निर्णीय इमां शांतिं द्वैतशमनेन परमेश्वरभासनेन च परमानन्दसत्तामत्यंतं निःसीमां एति प्राप्नोति ॥१६॥

पुनरप्येतदेव विवृणोत्यन्या श्रुतिः ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥१७॥

(कठवल्ली २ । २० ।)

यः परमेश्वरः अणोर्वालाग्रसहस्रभागादपि अणीयान्सूक्ष्मतरः तथा च महतो ब्रह्माण्डादपि स्थूलतमः नन्वेतादृशः परमेश्वरः क इत्यत्र आह अस्य विश्वस्य आत्मा । ननु स कुत्र वर्तते इत्यत आह जंतोः प्राणिनो गुहायां हृदयसिंहासने उपविष्टः । तमक्रतुमकर्तारं तत्त्ववित्पश्यति ईश्वरस्य कर्ता कार्यं कुतः स्यात् चेदियं त्रिगुणमयी माया सा तु मायैव तस्माद्विश्वाभावात्केवलेश्वरस्थितित्वाच्च मोहशोकावकाशो नास्तीति निश्चिनोति ततो वीतशोको निवृत्तशोकमोहः स्यात् । परमेश्वरस्य ज्ञानात्मप्रसादादात्मनो ब्रह्मणो महिमानं स्वकीयमाहात्म्यं च पश्यतीत्यर्थः ॥१७॥

ननु चेदयं परमेश्वरः सर्वात्मा तदा समस्तप्राणिसुलभः स्यान्नेत्याह श्रुतिः ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन ॥
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥१८॥

(कठवल्ली २ । २३ ।)

अयमात्मा प्रवचनेन बहुकीर्त्तनेन न लभ्य । न लभ्य इति सर्वत्र योज्यम् न मेधया व्यावहारिकमहामत्यापि च पुनः बहुना श्रुतेन अतिशास्त्रश्रवणेनापि न । ननु सर्वे वेदाः सर्वे मुनयः एतानेवोपायात्कथयंति तत्र निर्णयमाह । एष आत्मा यमेवानुग्रहतो वृणुते वांछति तस्यैवैष आत्मा स्वां तनुं स्वस्वरूपं विवृणुते दर्शयेत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथेदानीमात्मज्ञानिनामेव परमानन्दोदय इत्याह श्रुतिः ।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ॥
तमात्मस्थं येन पश्यंति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१९॥

(कठवल्ली २ । १२ ।)

यो वशी जितेन्द्रियो भूत्वा स्वतंत्र एकः सन्सर्वभूतांतरात्मा य एकं रूपं नटवद् बहुधा करोति तमीश्वरं आत्मस्थं सर्वभूतहृदयस्थं ये ज्ञानिनो अनुपश्यंति जानंति त एव धीराः शोकमोहरहिताः तेषामेव शाश्वतं सनातनं सुखम् इतरेषामनात्ममानिनां नेत्यर्थः ॥१९॥

तदेव दृढ़यति श्रुतिः ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥
तमात्मानं येनुपश्यंति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥२०॥

(कठवल्ली ५ । १३ ।)

योऽनित्यानां देहानां मध्ये नित्योऽविनाशी । चेतनानां प्राणेन्द्रियाणां च चेतनश्चेतयिता । च पुनरेकः सन् बहूनामसंख्यानाम् जनानां कामान्मनोरथान् विदधाति करोति ददाति । तमेव प्रसिद्धं श्रीनारायणं आत्मानं सर्वभूतात्मानं ये आत्मज्ञानिनोऽनुपश्यंति विजानंति तएव धीराः । तेषामेव शाश्वती सदावर्तिनी शान्तिः परमानन्दावाप्तिर्जायते नेतरेषां देहाभिमानिनामित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

ननु श्रीनारायण इतरप्राणिवत्करचरणादिभिः किं व्यवहरति नेत्याह श्रुतिः ।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ॥
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥२१॥

(श्वेताश्वतर ३ । १६ ।)

स परमेश्वरः अपाणिपादः करचरणादिरहितोपि ग्रहीता सर्वग्राहकः । जवनश्च वायुवत् सर्वत्र गंता च । अचक्षुः सर्वं पश्यति । अकर्णः सर्वं शृणोति विश्वं दृश्यादृश्यं जगत् अन्तर्बहिश्च वेत्ति जानाति तस्य ब्रह्मणो वेत्ता ज्ञापको न कश्चिदस्ति । तमेव श्रीनारायणं क्रीडाकार्यमात्रतः श्रीवासुदेवादिनामकं परमार्थतस्त्वनामकम् अग्र्यं आदिकर्तारम् पुराणं चिरंतनं अथवा पुरापि अग्र्यं नवीनं नतु जीर्णं पुरुष बलवत्तरसत्तया सत्वादित्रिगुणमयो मायाजेतारमात्मानं ब्रह्म ब्रह्मविद आहुर्वर्णयंतीत्यभिप्रायः ॥२१॥

नन्वेको नारायणः स्वात्मानं बहुविधं विधाय तिष्ठतीत्यत्राह ।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं सउ प्राणस्य प्राणः ॥
चक्षुषश्चक्षुरिति मुच्य धीराः प्रैत्यास्माल्लोकादमृता भवंति ॥२२॥

(केनोपनिषत् १ । २ ।)

यः श्रोत्रस्य कर्णस्य मध्ये कर्णभूय स्थितः । मनोमध्ये मनः । वचो मध्ये वाक् । स एव प्राणस्य मध्ये प्राणः । चक्षुर्मध्ये नयनं इति मुच्य बुद्ध्वा ज्ञात्वा तिष्ठंति तएव धीराः अस्माल्लोकादितो लोकात् देहाद्वा प्रैत्य प्रकर्षेण एत्य गत्वा आवरणमलात्मकाहंवासनां संत्यज्याऽमृताः जन्ममरणादिवश्याः पुनर्न भवंतीत्यर्थः ॥२२॥

इदानीं शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोस्ति कश्चित् इति नारायणोपनिषदि वर्णितं तदेव दृढयति श्रुतिः ।

यस्मात्परंनापरमस्तिकिञ्चिदस्मान् नाणीयो नज्यायोस्ति कश्चित् ॥
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥२३॥

(श्वेताश्वतर ३ । ६ ।)

यस्माद् ब्रह्मणः परं सूक्ष्मं किञ्चिन्नास्ति। अपरं च स्थूलं किञ्चिन्नास्ति। यस्माद् ब्रह्मणो ऽणीयोऽश्रेष्ठं किञ्चिन्नास्ति। ज्यायः श्रेष्ठमपि किञ्चिन्नास्ति। स्तब्धो नम्रो वृक्ष इवोद्याने दिवी-त्युपलक्षणं दिवादिषु सकलभुवनेषु स एवैको नारायणस्तिष्ठति उपविष्टो भवति। पुनरपि तदेव प्रकटयति तेन प्रसिद्धेन पुरुषेण पुरि पुरि वसतीति पुरुषस्तेन ब्रह्मणा इदं सर्वं सद-सत् परमपरं चराचरं दृश्यादृश्यं विश्वं इक्षुरसशर्करादिवत्पूर्णं व्याप्तमित्यर्थः ॥२३॥

ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं किञ्चिन्नास्तीत्याह श्रुतिः।

नान्योतोस्ति कर्ता नान्योतोस्ति द्रष्टा नान्योतोस्ति श्रोता नान्योतो-स्ति मंता। नान्योतोस्ति विज्ञाता एष त आत्मांतर्याम्यमृतः ॥२४॥

(बृहदारण्ये ३।७।२३।)

अतो ब्रह्मणोऽन्यस्तद्व्यतिरिक्त इतरः कर्ता नास्ति। तथैवातो ब्रह्मणोऽन्य इतरो द्रष्टा नास्ति। एवमेवातोऽन्यः श्रोता नास्ति। च पुनरतो ब्रह्मणोऽन्यो मंता विमर्शको नास्ति। अतोऽन्यो विज्ञाता निर्णेता नास्ति अनेककरनयनाङ्घ्रिमनोपायवानसकलकरणाम्मतत्त्वं तदधिष्ठातृत्वं च तस्यैति वर्णितम्। हे लोकेतिशेषः। एष अप्रच्छन्नस्वरूपः अमृतः जन्ममरणादिषड्विकार-रहित ते तवांतर्यामी आब्रह्मास्तम्बपर्यन्तानां प्राणिनां सर्वत्र सर्वरूपेः भूत्वा गुरुवदुपदेशको हृन्मध्ये स्थित इत्यर्थः ॥ २४ ॥

तटस्थलक्षणमाह।

यतो वा इमानि भूतानि जायंते येन जातानि जीवन्ति ॥
यत्प्रयंत्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥२५॥

(तैत्तिरीय ३।१।१।)

वा निश्चये यतो ब्रह्मण इमानि भूतानि जायंते येन जातानि जीवंति यद्ब्रह्मणि जातानि संप्रयंति लीना भवंति च पुनरभिविशंति समुद्रे तरङ्गा इव तन्मयो भवति हे चित्तेतिशेषः। तद्विजिज्ञासस्व जानीहि यत्तदेवब्रह्मेत्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

तथैवान्यच्च लक्षणमाह।

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोन्तर्हृदयं निधाय ॥
तद्विज्ञानेन परिपश्यंति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥२६॥

(मुण्डक २।२।७।)

स परमेश्वरो मनोमयो मनोरूपी भूत्वा प्राणशरीरनेता प्राणस्य दशविधस्य शरीरांतस्थस्य वायोः शरीरस्य च नेता अश्वसारथिवत्प्रेरकः। स एव महाराजवत् देहप्रसादांतर्वर्त्तिहृदयसिंहासनं निधाय प्रतिष्ठितः सर्वत्राज्ञां करोति। तदेव ब्रह्म धीरा ब्रह्मातिरिक्ताभावज्ञानतयाऽमोहिता विज्ञाने नेदृशेन निर्णयेन परिपश्यंति जानन्ति। ननु की-दृशं पश्यतीत्यत्राह। तेषां ब्रह्मज्ञानिनां तद्ब्रह्म आनन्दरूपं यथा नटकृतं शृंगारादिरसभावं

केवलं नानंदविषयः अपि तु भयानकरौद्ररसभावोप्यानंददो भवति तद्वत्दुःखादिष्वपि सुखरूपं यत अमृतं रोगात्मकं यमदूतकृतदुःखयुतमरणास्पृष्टं विभाति विशेषेणात्मभूतस्वरूपतया भासत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

ननु चेत्सर्वत्र स एव नारायणस्तदा कथन्न दृश्यते तत्राह श्रुतिः ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ोत्मा न प्रकाशते ॥

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥२७॥

(कठवल्ली ३।१२।)

स्थूलदेहे दृष्टिर्येषां तैर्देहदृष्टिभिः एष प्रत्यक्षोऽयमात्मा न प्रकाशते सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादितृणपर्यन्तेषु देहेषु गूढात्मा देहजवनिकया गूढ़ो गुप्तः आत्मास्वरूपं यस्य । च पुनः सूक्ष्मचैतन्ये दर्शनं दृष्टिर्येषां तैश्चैतन्यदृष्टिभिः पुरुषैः एष प्रकाशस्वरूप आत्मा दृश्यतेनुमीयते । कया अग्र्यया सात्विक्या सूक्ष्मया बुद्ध्या धारणावत्या धिया पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वादिति न्यायवत् । चेत्कश्चिच्चिद्रूपो न विद्यते तदा जड़स्वरूपा-देहादिबुद्ध्यंतताः सर्वे भावाः कथं चेष्टां कुर्युः तस्माच्चिद्रूपं ब्रह्मैवास्ति इत्यभिप्रायः ॥२७॥

ननु देवादयोपि कर्त्तृत्वादिप्रकृतयः स्वतंत्राः संति कथं सर्वं भावा जड़स्वभावास्तत्राह श्रुतिः ।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ॥

भीषास्मादिन्द्रश्चाग्निश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥२८॥

(तैत्तिरीय २।८।१।)

अस्मादितिपञ्चमी षष्ठीविषयेऽस्य ब्रह्मणो भीषा भयेन सूर्यः उदेति प्रकाशते । अस्य भीषेन्द्रो वर्षति । अस्य भीषाग्निः प्रज्वलति । चेत्ते स्वतंत्राः स्युस्तदा स्वकीयपूर्णबलवत्वं कथं न प्रकाशयेयुः । एवमेव पंचमो मृत्युर्यमोस्य भीषैव संहर्त्तेति शेषः । अनेन ब्रह्मादिस्थावरांताः सकलपदार्थाः कंदुकवत्क्रीड़ा विषयाः । क्रीड़कस्तु स्वतन्त्रः स्वयमेको नारायण इत्यभिप्रायः ॥ २८ ॥

इदानीं यतः सर्वगुणविशिष्टश्चिद्रूपः । स्वतंत्रोयमेकः श्रीनारायणस्तस्मात्तस्य शरणत्वमेव महानुपाय इत्याह ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदान्प्रहिणोति तस्मै ॥

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥२६॥

(श्वेताश्वतर ६।१८।)

यः श्रीनारायणः पूर्वसृष्ट्यादौ जलमध्यस्थस्वनाभिकमले ब्रह्माणं प्रजापतिम् विदधाति उत्पादितवान् । यो वै निश्चये तस्मै ब्रह्मणे वेदान् प्रहिणोति प्रतिपादितवान् । हर्षे तमेव श्रीभगवंतं नारायणदेवं क्रीडोपादानोत्पादकम् आत्मबुद्धिप्रकाशं आत्मनि स्वस्वरूपे जीवात्मनि स्वकीयोत्तमरहस्यस्थाने चैतन्यरूपेण तथैव बुद्धौ च धारणावत्यां सूक्ष्म-

केवलं नानंदविषयः अपि तु भयानकरौद्ररसभावोऽप्यानंदवो भवति तद्वत्दुःखादिष्वपि सुखरूपं यत अमृतं रोगात्मकं यमदूतकृतदुःखयुतमरणास्पृष्टं विभाति विशेषेणात्मभूतस्वरूपतया भासत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

ननु चेत्सर्वत्र स एव नारायणस्तदा कथन्न दृश्यते तत्राह श्रुतिः ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ॥

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥२७॥

(कठवल्ली ३।१२।)

स्थूलदेहे दृष्टिर्येषां तैर्देहदृष्टिभिः एष प्रत्यक्षोऽयमात्मा न प्रकाशते सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादितृणपर्यन्तेषु देहेषु गूढात्मा देहजवनिकया गूढो गुप्तः आत्मास्वरूपं यस्य । च पुनः सूक्ष्मचैतन्ये दर्शनं दृष्टिर्येषां तैश्चैतन्यदृष्टिभिः पुरुषैः एष प्रकाशस्वरूप आत्मा दृश्यतेनुमीयते । कया अग्र्यया सात्विक्या सूक्ष्मया बुद्ध्या धारणावत्या धिया पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वादिति न्यायवत् । चेत्कश्चिच्चिद्रूपो न विद्यते तदा जड़स्वरूपा-देहादिबुद्ध्यंताः सर्वे भावाः कथं चेष्टां कुर्युः तस्माच्चिद्रूपं ब्रह्मैवास्ति इत्यभिप्रायः ॥२७॥

ननु देवादयोपि कर्तृत्वादिप्रकृतयः स्वतंत्राः संति कथं सर्वे भावा जड़स्वभावास्तत्राह श्रुतिः ।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ॥

भीषास्मादिन्द्रश्चाग्निश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥२८॥

(तैत्तिरीय २।८।१।)

अस्मादितिपञ्चमी षष्ठीविषयेऽस्य ब्रह्मणो भीषा भयेन सूर्यः उदेति प्रकाशते । अस्य भीषेन्द्रो वर्षति । अस्य भीषाग्निः प्रज्वलति । चेत्ते स्वतंत्राः स्युस्तदा स्वकीयपूर्णबलवत्वं कथं न प्रकाशयेयुः । एवमेव पंचमो मृत्युर्यमोस्य भीषैव संहर्त्तेति शेषः । अनेन ब्रह्मादिस्थावरांताः सकलपदार्थाः कंदुकवत्क्रीड़ा विषयाः । क्रीड़कस्तु स्वतन्त्रः स्वयमेको नारायण इत्यभिप्रायः ॥ २८ ॥

इदानीं यतः सर्वगुणविशिष्टश्चिद्रूपः । स्वतंत्रोयमेकः श्रीनारायणस्तस्मात्तस्य शरणत्वमेव महानुपाय इत्याह ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदान्प्रहिणोति तस्मै ॥

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥२९॥

(श्वेताश्वतर ६।१८।)

यः श्रीनारायणः पूर्वसृष्ट्यादौ जलमध्यस्थस्वनाभिकमले ब्रह्माणं प्रजापतिम् विदधाति उत्पादितवान् । यो वै निश्चये तस्मै ब्रह्मणे वेदान् प्रहिणोति प्रतिपादितवान् । हर्षे तमेव श्रीभगवंतं नारायणदेवं क्रीडोपादानोत्पादकम् आत्मबुद्धिप्रकाशं आत्मनि स्वस्वरूपे जीवात्मनि स्वकीयोत्तमरहस्यस्थाने चैतन्यरूपेण तथैव बुद्धौ च धारणावत्यां सूक्ष्म-

धियि च ज्ञानस्वरूपेण प्रकाशः प्रकाशते। तं शरणं शरणार्हं वै निश्चयेन मुमुक्षुर्जीवोपाधितो मुक्तिमिच्छुरहम् अहंकारप्रकृतिर्जीवः प्रपद्ये शरणं व्रजामि अहंकारात्मिकी जीवोपाधिं संत्यज्य अहमपि चिद्रूप एवेति निर्णीय तन्मयोभवामीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अतएव स भगवान्नारायणः सर्वभूतान्तरात्मास्तीत्याह श्रुतिः।

भगवानपि विश्वात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ॥

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥३०॥

भगवानपि अद्भुतैश्वर्यसंपन्नः विश्वात्मा सोऽयं सर्वभूतांतरात्मा श्रीनारायणः भूते भूते अनुदेहं व्यवस्थितस्तत्त्वविद्भिर्दृश्यते। कथमित्यत्राह। एकधा चिद्रूपेण। बहुधा देवादिरूपेण। जलचन्द्रवत्। यथा सागरसरोवरनदीतडागकूपवाप्यादिजलाशयप्रतिबिंबिता बहवश्चंद्राः संति परमार्थतस्तु बिंबरूपी चन्द्रमा एक एव भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

तस्मान्नानाविधशक्तिमत्वादपरिमेयगुणवते नमस्कार एव विधेय इत्याह श्रुतिः।

य एकोहि सर्वजनेषु नित्यं चरत्यशांतेषु सुशान्तरूपः ॥

प्राणात्मनांतर्बहिरंशुमालिरूपेण तस्मै सततं नमोस्तु ॥३१॥

य एको देवः श्रीभगवान्नारायणः अन्तर्बहिश्चाकाशवत् अशांतेषु जलप्रकृतिषु सर्वजनेषु सकलकलेवरेषु सुशान्तरूपोऽतिनिश्चलस्वरूपो जीवादिदेहान् चेष्टते प्रकाशयति। कथमित्यत्राह अन्तः प्राणात्मना प्राणस्वरूपेण बहिश्चांशुमालिरूपेण सूर्यात्मना च तस्मै गुणातीताय ब्रह्मणे सततमनवच्छिन्नं नमः अहं प्रत्ययसमर्पणमस्तीत्यर्थः ॥३१॥

इदानीमस्य ब्रह्मणस्तद्विदश्चमाहात्म्यमाह श्रुतिः।

एतदेवाक्षरं पुण्यमेतदेवाक्षरं परम् ॥

एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥३२॥

(मैत्रेयी ६। २१)

एतदेव पूर्वोक्तं अक्षरं अविनाशि स्वरूपं ब्रह्म पुण्यं पवित्रं यद्वा पुण्यस्यापि पुण्यकर्तृ अथवा पुण्यफलदायकं। च पुन एतदेवाक्षरं परं सर्वोत्कृष्टमुपासनाविषयं। च एतदेवाक्षरं ब्रह्म ज्ञात्वा सर्वगतं ब्रह्मेति बुद्ध्वा यो ब्रह्मवेत्ता पुरुषः यत्फलं विषयं चेच्छति तस्य ब्रह्मज्ञस्य तत्फलं विषयश्च भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

पुनरपि तदेव दृढयति।

सदानन्दं रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

तदा विद्वान्पुण्यपापे विहाय परेऽव्यये सर्वमेकीकरोति ॥३३॥

सच्चानन्दश्च तत्सदानन्दं सच्च सत्यस्वरूपं च यत्सत्यतयाऽसत्यं जगदपि सत्यवद्भाति आनन्दश्च यदानन्दस्वरूपतया निरानन्दोपि देह आनन्दयुतो भवति। तत् रुक्मवर्णं

केवलं नानंदविषयः अपि तु भयानकरौद्ररसभावोप्यानंदवो भवति तद्वत्दुःखादिष्वपि सुखरूपं यत अमृतं रोगात्मकं यमदूतकृतदुःखयुतमरणास्पृष्टं विभाति विशेषेणात्मभूतस्वरूपतया भासत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

ननु चेत्सर्वत्र स एव नारायणस्तदा कथन्न दृश्यते तत्राह श्रुतिः ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ॥

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥२७॥

(कठवल्ली ३।१२।)

स्थूलदेहे दृष्टिर्येषां तैर्देहदृष्टिभिः एष प्रत्यक्षोऽयमात्मा न प्रकाशते सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादितृणपर्यन्तेषु देहेषु गूढात्मा देहजवनिकया गूढो गुप्तः आत्मास्वरूपं यस्य । च पुनः सूक्ष्मचैतन्ये दर्शनं दृष्टिर्येषां तैश्चैतन्यदृष्टिभिः पुरुषैः एष प्रकाशस्वरूप आत्मा दृश्यतेनुमीयते । कया अग्र्यया सात्विक्या सूक्ष्मया बुद्ध्या धारणवत्या धिया पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वादिति न्यायवत् । चेत्कश्चिच्चिद्रूपो न विद्यते तदा जड़स्वरूपा-देहादिबुद्ध्यंतताः सर्वे भावाः कथं चेष्टां कुर्युः तस्माच्चिद्रूपं ब्रह्मैवास्ति इत्यभिप्रायः ॥२७॥

ननु देवादयोपि कर्तृत्वादिप्रकृतयः स्वतंत्राः संति कथं सर्व भावा जड़स्वभावास्तत्राह श्रुतिः ।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ॥

भीषास्मादिन्द्रश्चाग्निश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥२८॥

(तैत्तिरीय २।८।१।)

अस्मादितिपञ्चमी षष्ठीविषयेऽस्य ब्रह्मणो भीषा भयेन सूर्यः उदेति प्रकाशते । अस्य भीषेन्द्रो वर्षति । अस्य भीषाग्निः प्रज्वलति । चेत्ते स्वतंत्राः स्युस्तदा स्वकीयपूर्णबलवत्वं कथं न प्रकाशयेयुः । एवमेव पंचमो मृत्युर्यमोस्य भीषैव संहर्त्तेति शेषः । अनेन ब्रह्मादिस्थावरांताः सकलपदार्थाः कंदुकवत्क्रीड़ा विषयाः । क्रीड़कस्तु स्वतन्त्रः स्वयमेको नारायण इत्यभिप्रायः ॥ २८ ॥

इदानीं यतः सर्वगुणविशिष्टश्चिद्रूपः । स्वतंत्रोयमेकः श्रीनारायणस्तस्मात्तस्य शरणत्वमेव महानुपाय इत्याह ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदान्प्रहिणोति तस्मै ॥

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥२९॥

(श्वेताश्वतर ६।१८।)

यः श्रीनारायणः पूर्वसृष्ट्यादौ जलमध्यस्थस्वनाभिकमले ब्रह्माणं प्रजापतिम् विदधाति उत्पादितवान् । यो वै निश्चये तस्मै ब्रह्मणे वेदान् प्रहिणोति प्रतिपादितवान् । हर्षे तमेव श्रीभगवंतं नारायणदेवं क्रीडोपादानोत्पादकम् आत्मबुद्धिप्रकाशं आत्मनि स्वस्वरूपे जीवात्मनि स्वकीयोत्तमरहस्यस्थाने चैतन्यरूपेण तथैव बुद्धौ च धारणावत्यां सूक्ष्म-

धियि च ज्ञानस्वरूपेण प्रकाशः प्रकाशते। तं शरणं शरणार्हं वै निश्चये मुमुक्षुर्जीवोपाधितो मुक्तिमिच्छुरहम् अहंकारप्रकृतिर्जीवः प्रपद्ये शरणं व्रजामि अहंकारात्मिकीं जीवोपाधिं संत्यज्य अहमपि चिद्रूप एवेति निर्णीय तन्मयोऽभवामीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अतएव स भगवान्नारायणः सर्वभूतान्तरात्मास्तीत्याह श्रुतिः।

भगवानपि विश्वात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ॥
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥३०॥

भगवानपि अद्भुतैश्वर्यसंपन्नः विश्वात्मा सोऽयं सर्वभूतांतरात्मा श्रीनारायणः भूते भूते अनुदेहं व्यवस्थितस्तत्त्वविद्भिर्दृश्यते। कथमित्यत्राह। एकधा चिद्रूपेण। बहुधा देवादिरूपेण। जलचन्द्रवत्। यथा सागरसरोवरनदीतडागकूपवाप्यादिजलाशयप्रतिबिंबिता बहवश्चंद्राः संति परमार्थतस्तु बिंबरूपी चन्द्रमा एक एव भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

तस्मान्नानाविधशक्तिमत्वादपरिमेयगुणवते नमस्कार एव विधेय इत्याह श्रुतिः।

य एकोहि सर्वजनेषु नित्यं चरत्यशांतेषु सुशान्तरूपः ॥
प्राणात्मनांतर्बहिरंशुमालिरूपेण तस्मै सततं नमोस्तु ॥३१॥

य एको देवः श्रीभगवान्नारायणः अन्तर्बहिश्चाकाशवत् अशांतेषु जलप्रकृतिषु सर्वजनेषु सकलकलेवरेषु सुशान्तरूपोतिनिश्चलस्वरूपो जीवादिदेहान् चेष्टते प्रकाशयति। कथमित्यत्राह अन्तः प्राणात्मना प्राणस्वरूपेण बहिश्चांशुमालिरूपेण सूर्यात्मना च तस्मै गुणातीताय ब्रह्मणे सततमनवच्छिन्नं नमः अहं प्रत्ययसमर्पणमस्तीत्यर्थः ॥३१॥

इदानीमस्य ब्रह्मणस्तद्विदश्चमाहात्म्यमाह श्रुतिः।

एतदेवाक्षरं पुण्यमेतदेवाक्षरं परम् ॥
एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥३२॥

(मैत्रेयी ६। २।)

एतदेव पूर्वोक्तं अक्षरं अविनाशि स्वरूपं ब्रह्म पुण्यं पवित्रं यद्वा पुण्यस्यापि पुण्यकर्तृ अथवा पुण्यफलदायकं। च पुन एतदेवाक्षरं परं सर्वोत्कृष्टमुपासनाविषयं। च एतदेवाक्षरं ब्रह्म ज्ञात्वा सर्वगतं ब्रह्मेति बुद्ध्वा यो ब्रह्मवेत्ता पुरुषः यत्फलं विषयं चेच्छति तस्य ब्रह्मज्ञस्य तत्फलं विषयश्च भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

पुनरपि तदेव दृढयति।

सदानन्दं रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विहाय परेऽव्यये सर्वमेकीकरोति ॥३३॥

सच्चानन्दश्च तत्सदानन्दं सच्च सत्यस्वरूपं च यत्सत्यतयाऽसत्यं जगदपि सत्यवद्भाति आनन्दश्च यदानन्दस्वरूपतया निरानन्दोपि देह आनन्दयुतो भवति। तत् रुक्मवर्णं

प्रकाशस्वरूपं कर्तारं सकलविधि धातारं ईशं परमैश्वर्ययुतं पुरुषं पुरि देहाख्ये नगरे महाराजवद्संवर्द्धितम् ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो वेदस्य योनिमुत्पत्तिकारणं तद्ब्रह्म यो विद्वान्सपुण्यपापे पुण्यं च पुण्येन स्वर्गमाप्नुयादिति श्रुतिः। तस्मात्पुण्यमपि बंधकारणम् पापं च पापेन दुर्गतिमाप्यते इति श्रुतिः तस्मात्तदपि बंधनविषयं ते उभे विहाय संत्यज्य अव्यये विनाशिनि परे सूक्ष्मतमे ब्रह्मणि सर्वं सकलं विश्वमेकीकरोति एकं रूपं तन्मयं जानाति स्वात्मानं चेति शेषः।। ३३ ॥

पुनरपि ब्रह्मविवरणमाह श्रुतिः—

अचित्तं चित्तमध्यस्थमचिंत्यं गुह्यमुत्तमम् ।
तत्र चित्तं निचयेत तच्च लिङ्गं निराश्रयम् ॥ ३४ ॥

(मैत्रेयी ६ । १९ ।)

अचित्तं संकल्पविकल्परहितं चित्तमध्यस्थं हृन्मध्ये उपविष्टम् अचिंत्यं अतएवापरिमेयं गुह्यं गोप्यं समस्तालभ्यं उत्तमं सर्वोत्कृष्टम्। यदुक्तं भगवद्गीतासु।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ तस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ इति॥ तत्रैव पुरुषोत्तमे ब्रह्मणि चित्तं शुद्धमनः निचयेत् विमर्शतया प्रविशेत् विदुषेतिशेषः। च पुनस्तद् ब्रह्म लिङ्गं चिह्नमात्रं तदपि निराश्रयं निराधारं निरंजनं अथवा लिंग्यमितिपाठः। लिङ्गैर नानाविधैर्लिंगैर्लक्षणैर्लक्ष्यमनुमेयमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

तस्माद् ब्रह्मण एव ब्रह्मैव भवतीत्याह श्रुतिः—

वह्नेश्च यद्वत्खलु विस्फुलिंगाः सूर्यान्मयूखाश्च तथैव तस्य ।
प्राणादयो वै पुनरेव तस्मादभ्युच्चरंतीह यथाक्रमेण ॥३५॥

(मैत्रेयी ६ । २६ ।)

खलु निश्चये यथाग्नेश्च यद्वत् ये ये विस्फुलिङ्गा अग्निकणा जायंते तन्मयाश्च भवन्ति तथैव सूर्यान्मयूखा मरीचयो जायंते तन्मयाश्च भवंति वै निश्चये एवमेव तस्माद् ब्रह्मण इह संसारे यथाक्रमेण अनुक्रमम् प्राणश्चैतन्यात्मा जीवस्तदादीनि पंचविंशति तत्वानि अभ्युच्चरंति उत्पद्यन्ते तन्मयानि च कनककुण्डलादिवत्सागरोर्मिवच्च भवंतीत्यर्थः ॥३५॥

पुनरपि लक्षणैरेतद्ब्रह्म वर्णयति श्रुतिः—

दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यंतरोह्यजः अप्राणोह्यमना ।
शुभ्रोह्यक्षरात्परतरः परः ॥ ३६ ॥

(मुण्डक २ । १ । २ ।)

दिव्यो निर्मलात्मा प्रकाशस्वरूपः अमूर्तोऽन्यप्राणिवत्कलेवररहितः पुरुषः पुरि देहे निवसमानः सएव बाह्याभ्यंतरः अंतर्बहिराकाशवत्तिष्ठमानः अजो जन्मादिषड्-

विकाररहितः अप्राणो नाशरहितः अमनाः संकल्पविकल्परहितः शुभ्रः निर्मलस्वरूपः सत्वरूपो वा च पुनः अक्षरो जीवात्परतरः उत्तमः पुरुषोत्तमः पर एतादृशः परमेश्वरोस्तीत्यर्थः ॥ ३६॥

एतदेव ज्ञेयमित्याह श्रुतिः।

एतज्जानीथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्।
यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च ॥३७॥

(मुण्डक २।२।२।)

एतदेव पूर्वोक्तं ब्रह्म हे लोक इति शेषः जानीथ एतत्कथंभूतं सत् अस्तीत्यपि तदेव। पु० । असत् नास्तीत्यपि तदेव यद्वा सत्। सत्यमपि तदेव असत्यमपि तदेव। च पुनर्वरेण्यमुपासनायोग्यं अथवा सदसद्वरेण्यमित्येकं पदम्। सदसतां देवादितृणपर्यंतानां प्राणिनां वरेण्यं याच्यं वरदायकं च पुनः विज्ञानाद् बुद्धेः परं यो बुद्धेः परतस्तु स इति स्मृतेः। यद्ब्रह्म प्रजानां सकलप्राणिनां मध्ये वरिष्ठं श्रेष्ठं यतः सकलप्राणिनो मायाशवलाः तत्तु मायारहितं अतएव श्रेष्ठं तथैव यद्ब्रह्म अर्चिमत् वैश्वानरवद् ब्रह्मादिज्वालायुक्तम्। च पुनः अणुभ्योप्यणु सूक्ष्मतरं। च पुनः यस्मिन् ब्रह्मणि लोकाः पूर्वादयो निहिताः प्रतिष्ठिताः तथैव लोकिनश्च ब्रह्मादयोपि लोकपालाश्च स्थिता इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

पुनरपि तदेव वर्णयति श्रुतिः।

तदेतदक्षरं परं ब्रह्म सप्राणस्तदवाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्यं सौम्य विद्धि ॥ ३८ ॥

(मुण्डक २।२।२।)

यस्य ब्रह्मणो निरामयनिर्विकारनिर्विकल्पनिराश्रयनिरंजननिरालम्बनिर्लेपनिरवयवागृहनिर्गुणनिष्कलानंताभयाचिंत्याचलाच्युतातींद्रियामितापरानीशानीहाक्षयाव्ययेत्येतन्माहात्म्यमुपवर्णितम् तत्पदार्थं एतत्त्वं पदार्थं अस्ति तत्वमसीति श्रुतिः। चेत्पदार्थे त्वं पदार्थमेव तदा तत्पदार्थमपि विनाशविषयमेव नेत्याह, यतोक्षरमविनाशि॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हतीति श्रीभगवत्स्मृतेः। तस्यैव परंब्रह्मेति कथयति इदानीं तत्पदार्थं विवृणोति सः तद्ब्रह्म। प्राणश्चैतन्य जीवोप्यस्ति अनेन बुद्धिरपि ग्राह्या तद् ब्रह्म मनो भवति अनेन प्राणादयोपि गृह्यंते। अथवा मन अतिवाहिको देहः। अनेनाधिभौतिको देहोपि गृह्यते अनेनैव पंचमहाभूतान्यपि व्याख्यातानि। तदेतदेवेति सत्यं तदमृतं दिकालाद्यनवच्छिन्नं तदेव वेद्यं ज्ञेयम्। अथवा वेदवाच्यं सौम्य शांतात्मन् शुद्धं मनः एतदेव विद्धि जानीहीत्यर्थः ॥३८॥

पुनरप्येतद्दृढयति श्रुतिः।

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चांतरिक्षमुत मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानीथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथामृतस्यैव सेतुः ॥३९॥
(मुण्डक २।२ ५।)

यस्मिँश्चिद्रूपे ब्रह्मणि द्यौः स्वर्लोकादिपंच सप्त वा लोकाः पृथिवी अतलादि सप्त पातालयुतो भूर्लोकः अंतरिक्षं भुवो लोकः। उत हर्षे। मनः शुद्धं अशुद्धं च सर्वैः प्राणैश्च सह अनेन जीवादिदेहान्ता गृह्यंते सकल विराड् यदाधारोस्तीत्यर्थः। हे लोकाः। एकं केवलं तमेव ब्रह्मैवात्मानं जानीथ अन्या वाच इतरान्सर्वधर्मान् विमुंचथाः विशेषेण सम्याज्ञानेन एतेषां धर्माणां फलवांच्छां मा कुरुत॥ तदुक्तम् श्रीमद्भगवद्गीतासु—सर्वधर्मान् परित्यज्य मुंचथ मामेकं शरणं व्रजेति। अत एष एवामृतस्य मोक्षस्य अथवा ब्रह्मधाम्नः सेतुः सुगमो मार्गः॥ एष निष्कंटकः पंथा यत्र संपूज्यते हरिरित्युक्तेः। अयमेवाभिप्रायः॥ ३९॥

पुनरपि तस्यैव महिमानं विवृणोति श्रुतिः।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येषः व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ४० ॥
(मुण्डक २।२।७।)

यः परमेश्वरः सर्वज्ञः सर्वं दृश्यादृश्यं विश्वं जानातीति सर्वज्ञः सर्वविच्च सर्वप्रच्छन्नाप्रच्छन्नं जगत् विंदति व्याप्नोतीति सर्वविद्यास्ति यस्य ब्रह्मणो भुवि भूरित्युपलक्षणम् भूलोकादिचतुर्दशभुवनेषु एष प्रत्यक्षोयं महिमा स सर्वभूतान्तरात्मा प्रतिष्ठित उपविष्टो भवति। कुत्र दिव्ये शुद्धे ब्रह्मपुरे हृदये तत्रापि सद्व्योम्न्याकाशे हृदयाकाश इत्यर्थः॥ ४०॥

पुनरप्येतदेव विचारयति श्रुतिः।

हिरण्मये पुरे कोशे विरजं ब्रह्मनिष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ४१ ॥
(मुण्डक २।२।६।)

को ब्रह्मा ईशः स्वामी यस्मिन्पुरे ब्रह्मपुरे हृदये ब्रह्मास्ति। हिरण्ये प्रकाशस्वरूपे शुद्धहृदये कथं भूतं विरजं रजस्तमोगुणहीनं निष्कलं द्वैतोपाधिरहितं शुभ्रम्। निर्मलं वा सत्वमयमस्ति तदेव ब्रह्म ज्योतिषां प्रकाशात्मनां सूर्यादीनां जीवादीनां वा ज्योतिः प्रकाशते। तत्प्रकाशेनैव तत्सर्वं प्रकाशते। तत्किमित्यत्राह। यद्ब्रह्मात्मविदो विदुः जानंतीत्यर्थः॥ ४१॥

पुनरप्येतदेव वर्णयति श्रुतिः।

प्राणो ह्येष सर्वभूतैर्विभाति विज्ञानदो भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४२ ॥
(मुण्डक ३।१।४।)

एष प्राणश्चैनन्यात्मा सर्वभूतेषु सर्वभूतेषु विभाति कीदृशः भवते उत्पादिताय जीवाय विज्ञानदो ज्ञानप्रतिपादकः। नातिवादी अत्यन्तवक्ता आत्मक्रीडः सर्वभूतात्मत्वादात्मनैवात्मनि क्रीडा यस्य। यथा क्रीडकोपि स्वयमेव क्रीडापि स्वयमेव क्रीडनीयो विषयोपि स्वयमेव अतएवात्मन्येव रतिः द्वितीयाभावात्। क्रियावान् आत्मरतिरपि सर्वकर्ता एष सर्वभूतांतरात्मा ब्रह्मविदां वेदविदां वरिष्ठो वर्णनीय इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नन्वेतादृक्प्राणविशिष्टं ब्रह्म लब्धुं क उपायः इत्यत आह।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अतः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः॥४३॥

(मुण्डक ३।१।५।)

एष स्वरूपप्रकाश आत्मा सत्येन समदर्शनतया ऋतं च सूनृता वाणी सत्यं च समदर्शनमितिश्रुतेः लभ्यो लब्धुं शक्यः यतः पुरुषस्तदेव समतामाप्नुयाद्यदैवात्मानं सर्वत्र विजानीयादितिभावः पुनः तपसा सर्वं ब्रह्मेतिनियमेन सम्यगतिशयतया ज्ञानेन विवेकेन। ब्रह्मचर्येण ब्रह्मार्पणमेवचर्या सर्वं कर्म तेन। अथवा ब्रह्मण एव चर्या चर्चा तया ब्रह्मगोष्ठ्या च। अथवा ब्रह्मण्येव चर्या गतिर्येषां ते संतः सत्संगमेनेत्यपरपर्यायः। कदैतत्कर्म कार्यमित्यत आह। नित्यं सदैव। ननु चेत्कश्चिदेतानुपायान् कुर्वीत तदा किं जायते इत्यत्राह अतः शरीरे शरीरांत एव हि निश्चये शुभ्रो निर्मलः ज्योतिः प्रकाशश्चैतन्यं तन्मयश्चिद्रूपोस्ति यं यतयः सत्यादिभिरुपायैरहर्निशं यत्नवंतः तैरेव क्षीणदोषाः क्षीणा नष्टा दोषाः शत्रुमित्रस्वकीयपरकीयनानाविधभावदृष्टिअविवेकाहंकारासत्प्रलापासत्संगा येषांते पश्यंति जानंतीत्यभिप्रायः ॥ ४३ ॥

एतदेव द्रढयति ॥

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पंथा विततो देवयानः।
येनाक्रमंत्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परं निधानम्॥४४॥

(मुण्डक ३।१।६।)

सत्यमित्युपलक्षणम् सत्यादिकं समदर्शनाद्युपायकदंबकं जयति सर्वोत्कृष्टत्वेन वर्तते नानृतं एतद्वैपरीत्यं सत्यादिना देवयानः देवस्य ब्रह्मणः स्थानं यानं गम्यं यत्र स देवयानः पंथा मार्गो विततो विस्तृतो भवति। हि निश्चये। येन मार्गेण आप्तकामा निष्कामाः संतः ऋषयो देवज्ञाः ब्रह्मज्ञानिनः आक्रमंत्यटंति गच्छंतीत्यर्थः॥ उक्तं च गीतायां—आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामीति॥ यत्र मार्गे सत्यस्य सत्याद्युपायवृंदस्य परं निधानं परमकारणम् तत्प्रसिद्धं ब्रह्म वरीवर्ति ॥४४॥

अपि चैतस्मिन्नुपायवर्ग एष एव महानुपाय इत्याह॥

यच्च किंचिद्राजादिकं दृश्यते यच्च किंचिदिन्द्रादिकं श्रूयते ।
तत्सर्वं अंतर्बहिर्व्याप्यैको नारायणः स्थितः ॥ ४५ ॥

सकले अनेनास्मिन् जगति दृश्यमाने विश्वं यच्च किंचिद्राजादिकं दृश्यते यच्च किंचिदिंद्रादिकं श्रूयते तत्सर्वमंतर्बहिर्व्याप्यैको नारायणः स्थितो भवतीति शास्त्रनिष्पन्नोतिसमीचीनोपाय इत्यर्थः ॥४५॥

नन्वस्य श्रीनारायणस्य स्वरूपं किमित्यत्राह ॥

यतो वाचो निवर्त्तंते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ॥ ४६ ॥

(तैत्तीरिय २ । ४ । १ । २ । ६ । १ ।)

यतो यस्मादानन्दस्वरूपाद्वाचो ब्रह्मादीनां वाण्यो निवर्त्तंते वक्तुं न शक्नुवंति मनसा सह ब्रह्मादीनामपि मनो न विमर्शयितुं शक्नोति किं कृत्वा अप्राप्याज्ञात्वा चेज्ज्ञानं तेषां स्यात्, तदा विमर्शनवचनविषयं किं न स्यात् । विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति श्रुतिः तस्माद् ब्रह्मणस्तदानन्दमानन्दस्वरूपं आनन्दो वै ब्रह्मेति श्रुतिः । यो विद्वान्न तुमायकः (ज्ञानुमापको वा पाठः) स कुतश्च नरकादिभ्यो भूतादिभ्यश्च न विभेति भयं न विदधाति द्वितीयाद्वै भयं भवतीति श्रुतेः द्वितीयाभासतो न भीत्यवकाश इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

ननु श्रीभगवद्धाम यद्वदंति तत्कीदृशमित्यत्र आह ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनंति तपांसि सर्वाणि च यद्वदंति ।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥४७॥

(कठवल्ली २ । १५ ।)

सर्वे वेदा यस्य ब्रह्मणः पदं धाम आमनंति प्रशंसंति सर्वाणि तपांसि च मासोपवासचांद्रायणादयो नियमा यद्धाम वदंति यन्निमित्ता भवंति यद्धामेच्छंतः पुरुषाः ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचर्यादिकानाश्रमांश्चरंति धारयंति तद्धाम हे लोका इति शेषः । संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि कथयामि ॥ ४७ ॥

तदेव स्तौतीत्याह ।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालंबनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ४८ ॥

(कठवल्ली २ । १७ ।)

एतदालम्बनं धाम श्रेष्ठं एतदालम्बनं धाम परं परात्परम् एतदालम्बनं धाम ज्ञात्वा अविनाशि ब्रह्मस्वरूपं निर्णीय पुरुषस्तस्मिन् ब्रह्मलोके ब्रह्मधाम्न्येव महीयते पूज्यते इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

पुनरपि तस्य ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वं वर्णयति श्रुतिः ।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं सदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥४६॥

(कठवल्ली २।२१ ।)

यः परमेश्वर आसीनः स्वस्वरूपब्रह्मासनोपरि निविष्टः दूरं व्रजति सर्वं दृश्यादृश्यं स्वनगरे सिंहासनोपरि निविष्टो महाराजः सकलपृथिवीवृत्तांतमिव व्याप्नोति जानातीत्यपरपर्यायः । च पुनः यत्र शयानः सुप्तः सर्वतो याति जागर्ति सर्वं पश्यति शृणोतीत्यर्थः । तं परमेश्वरं कथंभूतं सदामदम् सदैव मदिरोन्मत्तवन्मदः स्वस्वरूपमग्नत्वं यस्य तं सदैवोन्मत्तस्वभावम् । यद्वा सदामदम् । सदैवाभिमानशून्यं । ननु उन्मत्ततापवनबलेन वा भूतप्रवेशेन अथवा मदिरापानेन तत्र तस्य केनोन्मत्तत्वं जातमित्यत्राह । देवक्रीडकं यतस्तस्य सदोन्मत्तत्वं सावधानं न तु विक्षिप्तं । एतादृशं ब्रह्म मदन्यो मदर्थ इतरो ज्ञातुं निर्णेतुमर्हति योग्यो भवति न कश्चनेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

कश्चिदेतद्वेत्ता स्यात्सोपि कृतार्थो भवेदित्याह श्रुतिः ।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महांतं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥५०॥

(कठवल्ली २ । २२ ।)

अशरीरं अन्यप्राणिवत् शरीरं न यस्य तम् अनवस्थेषु अनित्येषु अथवा अवस्था जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितूर्यारूपाण्येषां यतः एता अवस्थाश्चिद्रूपबुद्ध्युद्भवाः देहास्तु जड़स्वरूपा तादृशेषु शरीरेष्ववस्थितं तिष्ठंतं । अथवा अशरीरमवस्थितं देहाभिमानरहितं यतः महांतं महद्रूपतया स्वल्पपदार्थेषु देहेषु कदाभिमानत्वं न स्यात् यतस्तं विभुं सर्वव्यापकं तमेव सर्वभूतात्मानं मत्वा धीर एतादृक् परमेश्वरज्ञो न शोचति शोकमोहाविष्टो न भवतीत्यभिप्रायः ॥ ५० ॥

एतदेव दृढ़यति ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगंधवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परंध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥५१॥

(कठवल्ली ३।१५ ।)

यदशब्दशब्दरहितं वाच्याभावात् यतो नीरूपस्य वाणी कुतः । च पुनः अस्पर्शं स्पर्शविहीनं रूपाभावात् यतोऽरूपं रूपशून्यं । अतएवाव्ययम् जन्माभावात् । तथाऽरसं रस आनन्दः । यदानन्दस्वरूपाद्विषयानंदस्तुच्छ एव । तस्मात् नित्यमगंधवत् गंधो वासना तया हीनं अनादि अकारणं अनंतमंतहीनं महतः परं स्थूलस्वरूपाद्विरजः परं वा देहादिकाल्परं । ध्रुवं सनातनम् तं । तत् एतादृशं ब्रह्म निचाय्य निर्णीय पुरुषो मृत्युमुखात् संसारात्प्रमुच्यते मुक्तः स्यादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

इदानीं निर्णयोपायमाह ।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५६॥

(केन १।८।)

यद् ब्रह्म प्राणेन न प्राणिति चेष्टते येन ब्रह्मणा प्राणः प्राणीयते चेष्टते तदेव शेषं वैषत् ॥५६॥

अथैतादृशं ब्रह्म ये जानंति ते कृतार्था इत्याह ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवंति ॥५७॥

(कठ ६।९।) (श्वेताश्वतर ४।२०।)

अस्य ब्रह्मणो रूपं कस्यचित्संदृशे दर्शनाय न तिष्ठति अस्ति । एतदेव प्रकाशयति । कश्चन पुरुष एनं ब्रह्म चक्षुषा न पश्यति । स पुरुषः कथंभूतः हृदा प्राणेन हृत्प्राणयोः परस्परं संबंधात् मनीषा मनीषया बुद्ध्या नाना ज्ञानेन तथैव मनसा संकल्पविकल्पाभ्यां च अभिक्लृप्तो निश्चित आवृतः । तस्मादीदृशं य एतद् ब्रह्म विदुर्जानंति ते अमृता जन्ममरणरहिता भवंतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

ननु चेत्तद् ब्रह्म जन्ममरणादिहीनं तदा तस्य कथं तत्परतत्रंत्वमित्याह ।

एषो हि देवः प्रदिशोनु सर्वाः पूर्वोहजातः सतु गर्भेअन्तः ।
स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठति विष्टतो-
मुखः ॥५८॥

हि निश्चये एष प्रकाशस्वरूपः स्वतंत्रोस्ति । कथंभूतः देवः स्वक्रीडया नटवत्कचिज्जायते कचिन्म्रियते कचिद् व्यवहरति कचिद्राजा कचिदनुचरः कचिद्धनी कचिद्दरिद्रो जायते । तस्मात्सुत एव स्वयं क्रीडावशतया पूर्वः पूर्वः हि निश्चये जातः उत्पन्नः । तदनु तस्यैच्छया सर्वा दिशश्च प्रदिशश्चोपदिशश्च जाताः स एव सर्वं अंतर्गर्भे । गर्भान्तर्वर्तते । स एव विजायमानो जन्मरतः तथैव स एव जनिष्यमाणो । जन्मेच्छुः एवं स एव प्रत्यङ्मुखो बहिर्निष्क्रमणसंमुखः स एव विष्टतोमुखः गर्भजालावृतवक्त्रस्तिष्ठति स्वयमेव सर्वत्र सर्वरूपतया क्रीडतीति भावः ॥ ५८ ॥

पुनरप्येतदेव व्याचष्टे ।

परीत्य लोकान् परीत्य भूतान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
प्रजापतिः प्रथमजऋतस्यात्मनात्मानमभिसंबभूव ॥५९॥

परीत्य परित इत्य गत्वा व्यापकीभूय लोकान् चतुर्दशभुवनानि तथैव परीत्य व्याप्य भूतानि सकलजनान् परीत्य व्याप्य सर्वा दिशश्च विदिशश्च प्रजापतिः प्रजानां सकलचरा-

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेतमुंजादिवेषीकां धैर्येण तं विद्यात् ॥५२॥

(कठ ६।१७।)

अंगुष्ठमात्रपरिमाणः अथवा अंगानि उषित्वा व्याप्य तिष्ठति मात्राभिः कलाभिर्यः सः पुरुषः परमेश्वरः कथंभूतः अंतरात्मा अन्तर्ध्याममध्ये आत्मा स्वरूपं यस्य । यः सर्वजनानां समस्तलोकानां हृदये हृदयाकाशे सन्निविष्टः । तं श्रीनारायणं स्वाच्छरीरात्स्वकीयशरीरात् प्रवृहेत पृथक्कुर्यात् जानीयात् । कस्मादिव मुंजात् इषीकां मुंजतृणगुलिकामिव । केन धैर्येण सात्विक्या धृत्या । उक्तं च भगवद्गीतासु । धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकीति । तमेतादृशं नारायणं विद्याज्जानीयात् यदैव पुरुषो देह व्यतिरिक्तमात्मानं जानीयात्तदैवायमात्मा निर्णयः स्यादिति भावः ॥ ५२ ॥

ननु यदलक्ष्यमतर्क्यमरूपं निरंजनं तत्केनानुमीयते इत्यनुमानलक्षणमाह श्रुतिः ।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५३॥

(केन १।४।)

यद्ब्रह्म वाचानभ्युदितं अवाच्यं । येन ब्रह्मणा वागभ्युद्यते वक्ति । तदेव ब्रह्म हे शिष्येतिशेषः त्वं विद्धि जानीहि । नेदं साकारं देवादिकम् । साकारमनृत्तं विद्धि निराकारं तु निश्चलमिति स्मृतेः । एतत्किमित्यत्राह । न यदिदं साकारं देवादिकमुपासते ॥५३॥

पुनरप्येतदेवाह ।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम् ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५४॥

(केन १।५।)

यद् ब्रह्म मनसा न मनुते न विमृश्यते । येन ब्रह्मणा मनोमतं विमर्शयुतं तत्त्वविद आहुः तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि जानीहि नेदमेतत् । यत्तत्किं । यदिदं विश्वमयमुपासते ॥५४॥

पुनरप्येतदेव वृणोति ।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यंति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५५॥

(केन १।६।)

यद्ब्रह्म चक्षुषा न पश्यते दृश्यते । येन ब्रह्मणा चक्षूंषि नयनानि पश्यंति तदेव ब्रह्म शेषं पूर्ववत् ॥ ५५ ॥

पुनरप्येतदेव वक्त ।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५६॥

(केन १।८।)

यद् ब्रह्म प्राणेन न प्राणिति चेष्टते येन ब्रह्मणा प्राणः प्राणीयते चेष्टते तदेव शेषं पूर्ववत् ॥५६॥

अथैतादृशं ब्रह्म ये जानंति ते कृतार्था इत्याह ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवंति ॥५७॥

(कठ ६।९।) (श्वेताश्वतर ४।२०।)

अस्य ब्रह्मणो रूपं कस्यचित्संदृशे दर्शनाय न तिष्ठति अस्ति । एतदेव प्रकाशयति । कश्चन पुरुष एनं ब्रह्म चक्षुषा न पश्यति । स पुरुषः कथंभूतः हृदा प्राणेन हृत्प्राणयोः परस्परं संबंधात् मनीषा मनीषया बुद्ध्या नाना ज्ञानेन तथैव मनसा संकल्पविकल्पाभ्यां च अभिक्लृप्तो निश्चित आवृतः । तस्मादीदृशं य एतद् ब्रह्म विदुर्जानंति ते अमृता जन्ममरणरहिता भवंतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

ननु चेत्तद् ब्रह्म जन्ममरणादिहीनं तदा तस्य कथं तत्परतत्रंत्वमित्याह ।

एषो हि देवः प्रदिशोनु सर्वाः पूर्वोहजातः सतु गर्भेअन्तः ।
स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठति विष्ठतो-
मुखः ॥५८॥

हि निश्चये एष प्रकाशस्वरूपः स्वतंत्रोस्ति । कथंभूतः देवः स्वक्रीडया नटवत्कचिज्जायते कचिन्न्रियते कचिद् व्यवहरति कचिद्राजा कचिदनुचरः कचिद्धनी कचिद्दरिद्रो जायते । तस्मात्सुत एव स्वयं क्रीड़ावशतया पूर्वः पूर्वः हि निश्चये जातः उत्पन्नः । तदनु तस्यैच्छया सर्वा दिशश्च प्रदिशश्चोपदिशश्च जाताः स एव सर्वं अंतर्गर्भे । गर्भान्तर्वर्तते । स एव विजायमानो जन्मरतः तथैव स एव जनिष्यमाणो । जन्मेच्छुः एवं स एव प्रत्यङ्मुखो बहिर्निष्क्रमणसंमुखः स एव विष्ठतोमुखः गर्भजालावृतवक्त्रस्तिष्ठति स्वयमेव सर्वत्र सर्वरूपतया क्रीडतीति भावः ॥ ५८ ॥

पुनरप्येतदेव व्याचष्टे ।

परीत्य लोकान् परीत्य भूतान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
प्रजापतिः प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंबभूव ॥५९॥

परीत्य परित इत्य गत्वा व्यापकीभूय लोकान् चतुर्दशभुवनानि तथैव परीत्य व्याप्य भूतानि सकलजनान् परीत्य व्याप्य सर्वा दिशश्च विदिशश्च प्रजापतिः प्रजानां सकलचरा-

चरभूतानां पतिः पालकः श्रीनारायणः कः ऋतस्य सत्यस्य पांचभौतिकस्य विश्वस्य प्रथमजः प्रथमं जातः आदिकारणं। आत्मना स्वरूपेण हेतुभूतेन आत्मनश्च स्वरूपं अभिसंबभूव अभितोंतर्बहिः संभावितवान् समस्तस्थावरजंगमात्मकं स्वस्वरूपं जगत् स्वयमेवोत्पाद्य स्वयमपि प्रविष्टवानिति भावः तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति श्रुतेः ॥ ५९ ॥

ननुभिन्नप्रकृतिषु लोकेषु आत्मनोपि भिन्नाः स्युरित्याह श्रुतिः ।

एक एवात्मा मंतव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयाद्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥६०॥

(ब्रह्मबिन्दुः)

एक एवात्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु मंतव्यो ज्ञेयः तत्र स एवैक आत्मैतस्मिन्नवस्थात्रये मिश्रितो बद्धो जन्ममृत्युयोग्यो भवति स्थानत्रयाद्भूर्भुवः स्वः स्वरूपात्रिगुणमयादवस्थात्रितयाद्व्यतीतस्य पारंगतस्य तूर्यावस्थायिनः पुरुषस्य पुनर्जन्म न विद्यते नित्यमुक्तो ब्रह्मस्वरूप एव भवतीत्यभिप्रायः ॥ ६० ॥

ननु तत्त्वविदस्तद्ब्रह्म निरंजनमिति कथयंति तत्र यत्किंचिद्वस्तुस्यात् तच्च श्वेतलोहितपीतकृष्णरक्तं स्यादेव अतस्तत्रास्तु मीयते ब्रह्मेत्याकाशपुष्पवच्छशशृङ्गवच्च वचनवैदग्ध्यमेव स्यात् नेत्याह श्रुतिः ।

वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागशः ।
तस्य भागस्य भागार्द्धं तत् ज्ञेयं च निरंजनम् ॥ ६१ ॥

(श्वेताश्वतर ५।९)

वालस्य केशस्याग्रं शिरः तस्य लक्षसंख्याका भागा विधेयाः तत्रैको भागो ग्राह्यस्तस्य भागस्यांशस्य भागा भागशः बहवो भागाः खण्डाः कार्याः तेष्वेको भागो ग्राह्यः तस्यापि भागद्वयं कार्यं तस्यापि भागार्द्धं कार्यम् तत्र यदेकं भागार्द्धं तद्भागार्द्धपरिमाणं निरंजनाख्यं ब्रह्म विद्वद्भिर्ज्ञेयम् तस्याप्यस्यैतादृशं सूक्ष्मत्वं स्यात् तस्य श्वेतपीतादिरागता कथं ज्ञेया तस्माद्वेदाः वेदज्ञाश्च ब्रह्मणो निरंजनमिति वदंति तस्मादन्यन्नास्तीत्यभिप्रायः ॥ ६१ ॥

नन्वीहक् सूक्ष्मतरं वस्तु ब्रह्म तदा तस्य सर्वव्यापकत्वपर्याप्तिः कथमित्यत्राह ।

तिलान्ने तु यथा तैलं पुष्पे गंधमिवार्पितम् ।
पुरुषस्य शरीरे तु स बाह्याभ्यंतरे स्थितः ॥ ६२ ॥

(ध्यानबिन्दु ७ ।)

तिलाभिधानेऽन्ने यथा तैले सर्वव्यापकं वर्तते यथा पुष्पे गंधमर्पितं सर्वव्यापकतया स्थितं तथैव पुरुषस्य वैराजस्य पुरुषस्य शरीरे विराडभिधाने ब्रह्माण्डे स निरंज-

नाम्नो नारायणो बाह्याभ्यंतरे अंतर्बहिश्च व्यापको भूत्वा स्थितः तस्मादलक्ष्यमाद्यायमेव ब्रह्मेति भावः ॥ ६२ ॥

पुनरप्येतदेव दृढ़यति श्रुतिद्वयम् ।

पुष्पमध्ये यथा गंधं पयोमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव कांचनम् ॥ ६३ ॥

(ध्यानविन्दु ५ ।)

यथा पयोमध्ये क्षीरमध्ये घृतं व्यापकं भवति यथा तिलमध्ये तैलं यथा पाषाणेषु शैलचूर्णेषु काञ्चनं व्यापकं भवति अथवा पाषाणेषु लोहदृषत्सु कांचनं धातुर्लोहमित्यर्थः ॥ ६३ ॥

एवं सर्वाणि भूतानि मणिः सूत्र इवात्मनि ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ ६४ ॥

(ध्यानविन्दु ६ ।)

ब्रह्मप्रोतानि भवन्ति यथा मणिगणे सूत्रंव्यापकं भवति एवमेव समस्तेषु स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु ब्रह्म सर्वव्यापकं भवति एवंविधब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मवित्सर्वभूतांतरात्मा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मणि स्थितो ब्रह्मैव भवति स्थिरबुद्धिर्निश्चलधीः अतएवासंमूढोऽमोहरहित इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

पुनरप्येतदेव व्याख्यायते ।

वृक्षं तु सकलं विद्यात् छाया तस्यैव निष्कला ।
सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थितः ॥ ६५ ॥

(ध्यानविन्दु ८ ।)

वृक्षं सकलासहितं विद्याज्जानीयात् तस्य वृक्षस्य छाया निष्कला तत्र वृक्षं तु मूलशाखाप्रशाखापत्रपुष्पफलत्वग्रसादिभिर्बहुविधं छाया त्वेकेव च पुनः वृक्षनेत्रविषयं छाया तु न तथा तस्माद् वृक्षच्छाययोः सकलनिष्कलत्वमुक्तम् तत्र सकले निष्कले च भावे सर्वत्रैवात्मा श्रीनारायणो व्यवस्थितः प्रतिष्ठितो भवतीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

ननु बहव आत्मानो मा भवंतु परंतु द्वावात्मानौ सत्यतया वर्त्तेते इत्यत्राह श्रुतिः ।

द्वा सुपर्णौ सयुजौ सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरेकं पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ ६६ ॥

(मुण्डक ३।१।१ । श्वेताश्वतर ४।६।)

द्वौ उभौ सुपर्णौ पक्षिणौ सुपर्णाविति वृक्षापेक्षयोक्तम् परमार्थतस्तु जीवात्मा परमात्मानौ सयुजौ सदा संयुक्तौ सखायौ परस्पराविरोधिनौ समानं सामान्यतया तिष्ठन्तौ अथवा समानं सहमानेन तत्रैकश्च मानेन देहोऽहमिति ज्ञानेन अन्यश्चामानेन नाहं देह

इति मानेन युक्तौ वृक्षं वृक्षते न पश्यति इति वृक्षः तं तस्माद्देहस्य वृक्षसमानता वर्णिता। उक्तं च गीतासु ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्। परिषस्वजाते आलिंगितवंतौ तयोर्जीवात्मपरमात्मनो मध्यादेको जीवात्मा पिप्पलं अश्वत्थे न श्वस्तिष्ठतीत्यश्वत्थं देहं इति यः स्वादुरसपूर्वकं अतीन्द्रिय-द्वारा भुनक्ति अन्यो द्वितीयः परमात्मा अनश्नन् भोगमकुर्वाणः अभिचाकशीति सन्निधानतया तिष्ठति तत्रेतयोर्गंगागंगाजलवन्नामतएव द्वित्वम् न तु परमार्थं वस्तुतस्तु द्वावेव चिद्रूपौ तत्र चैतन्यमेकमेव तस्माच्चिद्रूपतया नामतएव तयोर्भेदः वस्तुतस्त्वेकमेव ब्रह्मेति भावः ॥ ६६ ॥

इदानीं पूर्वश्रुतिवदात्मद्वयनिषेधिन्युत्तरा श्रुतिश्च।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा जनयन्तीं सरूपाः।
अजो ह्येषोऽजुषमाणोनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजो-
न्यः ॥ ६७ ॥

(श्वेताश्वतर ४।४।)

अजां जन्मशून्यां भ्रांतिमात्रामेव मायां एकामद्वितीयां लोहितशुक्लकृष्णां रजःसत्वतमोमयी रक्तश्वेतश्यामवर्णा बह्वीः प्रजाः नानाविधाः नानावर्णाः नानाप्रकृतिः सृष्टिजनयंतीमुत्पादयंती कार्यकारणकतृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते इति कृष्णस्मरणात् कथं भूताः प्रजाः स्वरूपास्तद्रूपा यथा तस्यास्त्रिगुणत्वं तथैव प्रजाप्युत्पादिता तत्र पूर्वोक्त जीवात्मपरमात्ममध्यात् हि निश्चये एको जीवात्मा अजः चिद्रूपत्वाज्जन्मादिषड्विकाररहितः न जायते म्रियते वा कदाचिदिति श्रीभगवत्स्मृतेः एनां त्रिगुणमयीं मायां। दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्ययेति श्रीकृष्णस्मरणात्। अनु च तत्परो भूत्वा जुषमाणः सेवमानः पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते इतिकृष्णस्मरणात् अथ पूर्वोक्तः परमात्मा अजो जन्मादिशून्यश्चिन्मयत्वात् एनामसद्रूपिणीं भुक्तभोगां प्रथमेन जीवात्मनोच्छिष्टीकृतां वेश्यामिव जहाति त्यजति यद्यपि परमात्मा मोहिनीं मायामिंद्रजालवद् दृष्ट्वा मायासबल-जीवभावत्वं प्राप्नोति न्यूनोऽपि स्वविमर्शतयैकात्मस्वस्वभावं प्राप्त इत्यर्थः ॥६७॥

नन्वीदृश्या ब्रह्मजिज्ञासायाः कोर्थ इत्यत्राह।

आहारार्थं कर्म कुर्य्यादनिंद्यं कुर्यादाहारं प्राणसंधारणाय।
प्राणाः संधार्य्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं तत्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न
जन्म ॥६८॥

भोजनार्थं कर्म व्यवहारं कुर्यात् यतस्तेन विना भोजनप्राप्तिः कुतः स्यात् कर्म कथंभूतं अनिंद्यं शास्त्रलोकादिवाच्यम् ननु यस्येतादृशं बंधनम्भवेत् तद्भोजनमेव किमर्थं कुर्यात् तत्राह पुरुषस्तदाहारं भोजनं कुर्यात् कस्मै प्राणसंधारणाय प्राणस्य संधारणम् संदीपनं

तथैव विजानताम् विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति श्रुतिः ज्ञानेन निश्चयवतां पुरुषाणां विज्ञातं तद्ब्रह्मानिर्वाच्यमुपलक्ष्यमज्ञेयमिति तैरेव निर्णीतमित्यर्थः ॥ ७१ ॥

ननु चेदेतद् ब्रह्माज्ञेयं तदा तत्प्राप्तिपरिश्रमो निरर्थक इत्यत्राह ।

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्मसमश्नुते ॥७२॥

(कठवल्ली श्रुतिः ६।४ ।)

यदा यस्मिन् काले अस्य पुरुषस्य हृदि हृदये स्थितैः श्रिताः मृतोत्थिताः सर्वे कामाः वित्तैषणा सुतैषणा सुखैषणा श्रेयैषणा स्वर्गैषणेत्यादिसकलकामनाः प्रमुच्यन्ते अमुं संत्यज्य पलायंते अथानन्तरं मर्त्यो मरणशीलः अमृतोभवति कामकामिन एव देहसंबंधतो जन्ममृत्य्वादि इतिभावः । ततो तत्रैव जन्मनि ब्रह्मत्वं समश्नुते ब्रह्ममयोभवतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

पुनरपि ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वं श्रुत्वा भ्रांतचित्तान्पुरुषानाश्वासयत्यन्या श्रुतिः ।

तमेवमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति ।

यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन ॥ ७३ ॥

(व्रिहदारण्य ४ । ४ । २२ ।)

यज्ञेन दानेन तपसा नियमेन अनाशकेन निष्कामेन यतः कामेनैव पुण्यनाशः अनाशकेनेति सर्वत्र योज्यं तैरेव शुद्धाः संतो ब्राह्मणाः वेदज्ञाः वेदानुवचनेन वेदश्रुतिसमुदायेन तमेव प्रसिद्धमात्मानं सर्वभूतात्मानं विविदिषन्ति जानन्तीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

पुनरप्येतदेव दृढयति ।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति ॥७४॥

(ब्रह्मविन्दुः १७ ।)

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये एकं यत् शब्दब्रह्म वेदशास्त्रं अपरं परं ब्रह्म च तत्र द्विविधब्रह्मज्ञाने को हेतुरित्यत्राह यः शब्दब्रह्मणि वेदशास्त्रे निष्णातः निःशेषतया स्नातः वेदशास्त्रज्ञो भवति स परंब्रह्माधिगच्छति अनुमानद्वारा दर्प्पणे स्वमुखमिव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥७४ ॥

अथेदानीं ब्रह्मज्ञाने सुगमोपायमाह श्रुतिः ।

यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचिष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥७५॥

(कठवल्ली ६।१० ।)

यदा पंच ज्ञानानि ज्ञानेन्द्रियाणि अवतिष्ठंते निष्कामानि भवंति मनसा सह मनोपि निष्कामं स्यात् तेनानेन कर्मेन्द्रियाण्यपि वर्णितानि यत इन्द्रियाणां मनोवशत्वात् बुद्धिश्च न विचिष्टेतानेकज्ञानं न कुर्य्यात् तां तदवस्थां परमां गतिमाहुर्वदंति वेदविद इत्यर्थः ॥७५॥

योगमार्गिणामप्येतदेव दृढयति श्रुतिद्वयम् ।

इति मानेन युक्तौ वृक्षं वृक्षते न पश्यति इति वृक्षः तं तस्माद्देहस्य वृक्षसमानता वर्णिता। उक्तं च गीतासु ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्। परिषस्वजाते आलिंगितवंतौ तयोर्जीवात्मपरमात्मनो मध्यादेको जीवात्मा पिप्पलं अश्वत्थे न श्वस्तिष्ठतीत्यश्वत्थं देहं इति यः स्वादुरसपूर्वकं अतीन्द्रियद्वारा भुनक्ति अन्यो द्वितीयः परमात्मा अनश्नन् भोगमकुर्वाणः अभिचाकशीति सन्निधानतया तिष्ठति तत्रैतयोर्गंगागंगाजलवन्नामतएव द्वित्वम् न तु परमार्थं वस्तुतस्तु द्वावेव चिद्रूपौ तत्र चैतन्यमेकमेव तस्माच्चिद्रूपतया नामतएव तयोर्भेदः वस्तुतस्त्वेकमेव ब्रह्मेति भावः ॥ ६६ ॥

इदानीं पूर्वश्रुतिवदात्मद्वयनिषेधिन्युत्तरा श्रुतिश्च ।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा जनयन्तीं सरूपाः ।
अजो ह्येषोऽजुषमाणोनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजो-
न्यः ॥ ६७ ॥

(श्वेताश्वतर ४।२।)

अजां जन्मशून्यां भ्रांतिमात्रामेव मायां एकामद्वितीयां लोहितशुक्लकृष्णां रजःसत्वतमोमयी रक्तश्वेतश्यामवर्णा बह्वीः प्रजाः नानाविधाः नानावर्णाः नानाप्रकृतिः सृष्टिजनयंतीमुत्पादयंती कार्यकारणकतृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते इति कृष्णस्मरणात् कथं भूताः प्रजाः स्वरूपास्तद्रूपा यथा तस्यास्त्रिगुणत्वं तथैव प्रजाप्युत्पादिता तत्र पूर्वोक्त जीवात्मपरमात्ममध्यात् हि निश्चये एको जीवात्मा अजः चिद्रूपत्वाज्जन्मादिषड्विकाररहितः न जायते म्रियते वा कदाचिदिति श्रीभगवत्स्मृतेः एनां त्रिगुणमयीं मायां। दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्ययेति श्रीकृष्णस्मरणात्। अनु च तत्परो भूत्वा जुषमाणः सेवमानः पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते इतिकृष्णस्मरणात् अथ पूर्वोक्तः परमात्मा अजो जन्मादिशून्यश्चिन्मयत्वात् एनामसद्रूपिणीं भुक्तभोगां प्रथमेन जीवात्मनोच्छिष्टीकृतां वेश्यामिव जहाति त्यजति यद्यपि परमात्मा मोहिनीं मायामिंद्रजालवद् दृष्ट्वा मायासबलजीवभावत्वं प्राप्नोति न्यूनोऽपि स्वविमर्शतयैकात्मस्वस्वभावं प्राप्त इत्यर्थः ॥६७॥

नन्वीदृश्या ब्रह्मजिज्ञासायाः कोर्थ इत्यत्राह ।

आहारार्थं कर्म कुर्य्यादनिंद्यं कुर्यादाहारं प्राणसंधारणाय ।
प्राणाः संधार्य्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं तत्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न
जन्म ॥६८॥

भोजनार्थं कर्म व्यवहारं कुर्यात् यतस्तेन विना भोजनप्राप्तिः कुतः स्यात् कर्म कथंभूतं अनिंद्यं शास्त्रलोकादिवाच्यम् ननु यस्यैतादृशं बंधनम्भवेत् तद्भोजनमेव किमर्थं कुर्यात् तत्राह पुरुषस्तदाहारं भोजनं कुर्यात् कस्मै प्राणसंधारणाय प्राणस्य संधारणम् संदीपनं

तथैव विजानताम् विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति श्रुतिः ज्ञानेन निश्चयवतां पुरुषाणां विज्ञातं तद्ब्रह्मानिर्वाच्यमुपलक्ष्यमज्ञेयमिति तैरेव निर्णीतमित्यर्थः ॥ ७१ ॥

ननु चेदेतद् ब्रह्माज्ञेयं तदा तत्प्राप्तिपरिश्रमो निरर्थक इत्यत्राह ।

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योमृतोभवत्यत्र ब्रह्मसमश्नुते ॥७२॥

(कठवल्ली श्रुतिः ६।४ ।)

यदा यस्मिन् काले अस्य पुरुषस्य हृदि हृदये स्थितैः श्रिताः मृतोत्थिताः सर्वे कामाः वित्तैषणा सुतैषणा सुखैषणा श्रेयैषणा स्वर्गैषणेत्यादिसकलकामनाः प्रमुच्यन्ते अमुं संत्यज्य पलायंते अथानन्तरं मर्त्यो मरणशीलः अमृतोभवति कामकामिन एव देहसंबंधतो जन्ममृत्यवादि इतिभावः । ततो तत्रैव जन्मनि ब्रह्मत्वं समश्नुते ब्रह्ममयोभवतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

पुनरपि ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वं श्रुत्वा भ्रांतचित्तान्पुरुषानाश्वासयत्यन्या श्रुतिः ।

तमेवमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति ।

यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन ॥ ७३ ॥

(बिहदारण्य ४ । ४ । २२ ।)

यज्ञेन दानेन तपसा नियमेन अनाशकेन निष्कामेन यतः कामेनैव पुण्यनाशः अनाशकेनेति सर्वत्र योज्यं तैरेव शुद्धाः संतो ब्राह्मणाः वेदज्ञाः वेदानुवचनेन वेदश्रुतिसमुदायेन तमेव प्रसिद्धमात्मानं सर्वभूतात्मानं विविदिषन्ति जानन्तीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

पुनरप्येतदेव दृढयति ।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति ॥७४॥

(ब्रह्मविन्दुः १७ ।)

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये एकं यत् शब्दब्रह्म वेदशास्त्रं अपरं परं ब्रह्म च तत्र द्विविधब्रह्मज्ञाने को हेतुरित्यत्राह यः शब्दब्रह्मणि वेदशास्त्रे निष्णातः निःशेषतया स्नातः वेदशास्त्रज्ञो भवति स परंब्रह्माधिगच्छति अनुमानद्वारा दर्प्पणे स्वमुखमिव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥७४ ॥

अथेदानीं ब्रह्मज्ञाने सुगमोपायमाह श्रुतिः ।

यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचिष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥७५॥

(कठवल्ली ६।१० ।)

यदा पंच ज्ञानानि ज्ञानेन्द्रियाणि अवतिष्ठंते निष्कामानि भवंति मनसा सह मनोपि निष्कामं स्यात् तेनानेन कर्मेन्द्रियाण्यपि वर्णितानि यत इन्दियाणां मनोवशत्वात् बुद्धिश्च न विचिष्टेतानेकज्ञानं न कुर्य्यात् तां तदवस्थां परमां गतिमाहुर्वदंति वेदविद इत्यर्थः ॥७५॥

योगमार्गिणामप्येतदेव दृढयति श्रुतिद्वयम् ।

तत्त्वविद् इति शेषः। न कर्मणा नित्यनैमित्तिकादिधर्मेण चान्द्रायणादिव्रतसमुदायेन च। न प्रजया पुत्रादिकृतश्राद्धादिना। न धनेन धनसाध्येन यज्ञादिना वा। किंतु एकेन केवलेन त्यागेनाहंतात्यागेन अमृतत्वं अमृतो जन्ममृत्यादिरहितोऽविनाशी नारायणस्तद्भाव अमृतत्वं श्रीनारायणसायुज्यताम्। आनशुः प्राप्नुयुरित्यर्थः। तस्मात्तद्विनाशीस्वरूपं ब्रह्म कथंभूतं नाकं परेण नाकात्स्वर्गादपि परं श्रेष्ठम् विभ्राजते प्रकाशते नयनादिसकलपार्षदद्वारा सर्वं करोतीति भावः। यद्यत्र ब्रह्मणि यतयोऽहंतात्यागेन यत्नवंतस्त एव संन्यासिनः परमहंसा विशंति तदात्मतया सर्वं जानंतीत्यभिप्रायः॥ ७८॥

पुनरप्येतदेव द्रढयति।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परांतकाले परा मृताः परिमुच्यंति सर्वे॥७९॥

(मुण्डक ३।२।६।)

ये वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः वेदान्तशास्त्राणां विज्ञानेन सुनिश्चितो निर्णीतोऽर्थः परमार्थो ब्रह्म यैस्ते संन्यासयोगेनात्मत्यागोपायेन यतयो यत्नवंतः। तेनैव शुद्धसत्वाः निर्मलान्तःकरणा। यतः समस्तपापविधायिन्यहंतैवेति। तस्मादहंतात्याग एव शुद्धकारणमिति भावः। ते सर्वे ब्रह्मलोकेषु। ब्रह्ममयेषु लोकेषु परांतकाले परः परश्चासावंतः। कल्पांतस्वात्मविनाशः यतो यावदहंता वर्तते तावदेव देहात्मसंसारस्थितिरपि वर्तते स एव कल्पः तस्याहंकारस्यांतो नाशः कल्पांत इति कथ्यते तस्य काले समये यावेदवाहंताविनाशः स्यात् तदेव कल्पांतकालस्तस्मिन् सति परामृता अत्यन्ताविनाशिरूपाः परिमुच्यते परितो जीवभावादिबंधनेभ्यो मुक्ताः संतो ब्रह्मसायुज्यमाप्नुवंतीत्यभिप्रायः॥ ७९॥

अनेन पूर्वोक्तेन श्रुतिसमुदायेन ब्रह्मज्ञाने आरोहक्रम उक्त इदानीं ततोपि सुगममवरोहमार्गमाह श्रुतिः।

तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरंजनम्।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म संपद्यते ध्रुवम्॥८०॥

(ब्रह्मविन्दुः)

तदेव पूर्वोक्तं ब्रह्म निष्कलं निर्विकल्पं निरंजनम् यस्तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ध्रुवं-निश्चये संपद्यते ब्रह्मैव भवति ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति श्रुतेः॥८०॥

तदेव द्रढयति।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बंधो न च शासनम्।
न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता॥८१॥

(ब्रह्मविन्दुः)

निरोधो मृत्युर्भवति न चोत्पत्तिर्न जन्मबंधनम् न च शासनं यमदण्डो न मुमुक्षा मोक्षमिच्छा मुक्तिर्मोक्षः सर्वं ब्रह्मेति ज्ञानवत् इति शेषः इत्येवैवेयमेव परमार्थता सत्यता भवतीत्यभिप्रायः ॥ ८१ ॥

तस्मादीदृग्ज्ञान एव नित्यं यत्नं कुर्यादित्याह ।

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।
सततं मंथयितव्यं मनसा मंथानभूतेन ॥८२॥

(ब्रह्मबिन्दुः)

पयसि दुग्धे घृतमिव भूते भूत अनुभूतं चराचरे जगति निगूढगुप्तं विज्ञानचिद्रूपं ब्रह्म विज्ञानमानन्द ब्रह्मेति श्रुतेः वसति तिष्ठतीत्यर्थः तस्माद्ब्रह्म सततं सदैव मंथयितव्यं विमर्शयितव्यं । केन मनसा शुद्धचित्तेन किंभूतेन मंथानभूतेन मंथानस्थानस्थितेनेत्यर्थः ॥८२॥

ननु तद्ब्रह्म कथं मन्थयितव्यं तत्राह ।

सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेष्ववसर्पति ।
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः ॥८३॥

(ब्रह्मबिन्दुः)

यद् ब्रह्म सर्वभूताधिवासं,सर्वभूतानामधिवासं आधारस्तत् यद् ब्रह्मभूतेषु अवसर्पति निवसति तद्ब्रह्माहमस्मि केन सर्वानुग्राहकत्वेन सर्वमनुगृह्णात्यात्मौपम्येन जानाति इति सर्वानुग्रहकस्तस्य भावस्तत्त्वं तेन च पुनः अहं वासुदेव इति परिज्ञानेन मंथयितव्यमित्यर्थः॥८३॥

तद्विपरीतधर्मिणो निंदंति ।

असूर्या नाम ते लोका अंधेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छंति येके चात्महनो जनाः ॥८४॥

(ईशावास्योपनिषत्)

असूर्याः सूर्यादिप्रकाशरहितालोका नरकविषया अंधेन तमसा गाढांधकारेणावृता युक्ता भवंति । ते प्रेत्य देहं संत्यज्य तान्नरकानभिगच्छंति ते के ये केऽपि जना आत्महन आत्मघातिन आत्माभावात् देहाभिमानिन इत्यर्थः ॥८४॥

पुनरप्येतद् दृढयति ।

न तं विदाथ इमा जजान यद्यस्माकमंतरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्पाश्चासुतृप उक्थशासश्चरंति ॥८५॥

(यजुर्वेद)

हे लोका यूयं तं न विदाथ न जानीथ तं कं यः ! इमा अनेकयोनीर्जजान उत्पादितवान् तन्नाज्ञाने को हेतुः यदस्मात्कारणाद्युष्माकं तेन ब्रह्मणा सहान्तरं भिन्नत्वं बभूव ।

अतएव भवतश्चरंति पुनः पुनर्जन्ममरणादि प्राप्नुवंति नीहारेण मोहांधकारेण प्रावृताः नित्यमात्मानं त्यक्त्वा अनित्यं परं देहमात्मानं मन्यमानाः अतएव जल्पाः निंद्या अतएव असुतृप उदरभरणमात्रेप्सवः उक्थशासः वेदोक्तविधिनिषेधरज्जुभिर्बद्धा इत्यर्थः ॥८५॥

पुनरप्यभिमानिनो लोकान्निन्दति ।

अविद्यायामंतरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जघन्यमाना अपि यंति मूढा अंधेनैव नीयमाना यथांधाः॥८६॥

(कठवल्ली २।५।)

अविद्यायां आत्मन्यनात्मज्ञानं अनात्मन्यात्मज्ञानं अविद्या । तयांतरे ईश्वरात्पृथक्त्वे वर्तमानाः अहंकर्तादि इत्यादिनिर्णये स्थिताः । च पुनः स्वयं धीराः एतत्कार्यमस्मद्वशे वर्तते इति धैर्यवन्तः । च पण्डितंमन्यमानाः वयं पण्डिता इत्यभिमानवंतः । जघन्यमानाः अहंतयानुक्षणं तमोभयक्रोधनिष्ठाः । अतएव स्वयं मूढाः सर्वकर्तेश्वर इत्यज्ञानिनः मन्त्रादिद्वारा युष्मान्मोक्षयिष्याम इत्यन्यान्कथयंतः । ते के यथांधाः पुरुषा स्वयं गंतुमसमर्था अंधेनाचक्षुषा पुरुषेण नीयमाना हस्तान् गृहीत्वा चाल्यमानाः कुत्र गमिष्यन्ति अपि तु कुत्रचिद् गर्ते पतिष्यंति तथैवांतर्मूढाः स्वयं भगवन्मार्गानभिज्ञा बहिः पाण्डित्याभिमानिनोन्यान्मूढान् शिष्यान् प्रमोदयतीत्यभिप्रायः ॥८६॥

ब्रह्मवित्तु सदैव निर्दोष इत्याह ।

यथा प्रदीप्तं पर्वतं नाश्रयंति मृगा द्विजाः ।
तद्ब्रह्मविदो दोषा नाश्रयंति कदाचन ॥ ८७ ॥

(मैत्रायणी)

यथा प्रदीप्तं दावाग्निना प्रज्वलितं पर्वतं मृगाः द्विजाः पक्षिणश्च नाश्रयंति दूरादेव नश्यंति । तद्वत् तथैव ब्रह्मविदः चित्प्रकाशवतः पुरुषस्य दोषाः पुण्यपापादयः रागद्वेषादयश्च कदाचन नाश्रयंतीत्यर्थः ॥८७॥

तस्मात्परोहि योगो मनसः समाधिरितिन्यायाद् ब्रह्मज्ञानमपि मनोविषयमेवेत्याह श्रुतिः ।

चित्तस्य हि प्रसादेन हंति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥ ८८ ॥

(मैत्रायणी ४।४।)

हि निश्चये पुरुषः शुभाशुभं शुभं कर्म पुण्यादिकं निष्कामतया हंति नाशयति अशुभं कर्म अकरणतया हंति नाशयति । केन चित्तप्रसादेन चित्तस्य मनसः प्रसादः प्रसन्नता यदा स्यात् यदास्य पूर्णत्वं स्यात् तत्पूर्णत्वं पूर्णात्मकब्रह्मप्राप्त्यैव जायते नत्वपूर्णसांसारिकपदार्थप्राप्त्या यतः सांसारिकविषयादिप्राप्तौ सत्यां पुनरपि तृष्णा जायते

अपूर्वविषयत्वात् तस्माद्यदैव ब्रह्मप्राप्तिः स्यात् तदैव प्रसन्नता स्यात् । ननु सा ब्रह्मप्राप्तिः कीदृशी इत्यत्राह । यदा सर्वत्रात्मज्ञानं जायते तदा ब्रह्मप्राप्तिर्विज्ञेया चेद्येन सर्वेत्रात्मैवेति ज्ञातं तस्य कामना कावसिष्टा तस्माद्यदैव चित्तं निष्कामं स्यात् तदैव प्रसन्नत्वं जायते ततः पुण्यादिके पापादिके च निष्कामं स्यात् ततः शुभाशुभकर्माभोगविषयं स्यात् तस्मात्प्रसन्नात्मा प्रसन्नचित्तः पुरुषः परमानन्दरूपे आत्मनि ब्रह्मणि स्थित्वा अव्ययमविनाशि सुखमश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥८८॥

तस्मात्सत्यतया दृढ़यति ।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चितस्तन्मयो भवति गृह्यमेतत्सनातनम् ॥ ८६ ॥

(मैत्रायणी)

हि निश्चये चित्तमेव मन एव संसारः संसरतीति संसारः जन्ममृत्युसुखदुःखादिप्राप्तिः तन्मयः प्रयत्नेन यत्नतयेव निष्कामतयैव शोधयेत् शुद्धं कुर्य्यात् यतः सकाममेवाशुद्धं तस्मात्पुरुषः यच्चितः यस्मिन् विषये चित्तं स्यात् तन्मयस्तद्रूप एव भवति यस्य ब्रह्मविषये चित्तं स्यात् स तद्रूपो भवति यस्य विषयादिकं चित्तं स्यात्स तन्मयो भवति उक्तं च श्रीभगवद्गीतासु—यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् । तमेवेति च कौंतेय सदा-तद्भावभावितः इति ।

वसिष्ठेपि । मुक्ताभिमानी मुक्तोहीति । गीतायाम्—देवान्देवयजो यांति पितॄन्याति पितृव्रताः । भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोपि मामिति । तस्मादेतद्गुह्यपरमरहस्यं सनातनम् ब्रह्मादिभिरप्यपरिहारार्थं तैरपि मतं चेत्यभिप्रायः ॥ ८९ ॥

एतदेव दृढ़यति ।

समासक्तं यथा चित्तं जंतोर्विषयगोचरे ।
तच्चेदेवं ब्रह्मणि स्यात्तत् को न मुच्येत बंधनात् ॥ ६० ॥

(मैत्रायणी)

यथा जंतोः पुरुषस्य चित्तं मनः विषयगोचरे विषयादिषु समासक्तं अत्यन्ततत्परं भवति चेदेवमेवतच्चित्तं ब्रह्मपरं स्यात् तदा कश्च पुरुषः बन्धनात् संसारात् । नमुच्येत मुक्तो भविष्यतीत्यर्थः ॥९०॥

तस्माद् बंधमोक्षो मनोविषय एवेत्याह ।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंकल्पाच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥ ६१ ॥

(ब्रह्मविन्दुः)

मनश्चित्तं द्विप्रकारं एकं शुद्धम् द्वितीयं अशुद्धं तत्र कामसंकल्पात्कामनाचिन्तया अशुद्धं मलिनं बंधविषयं भवति कामनावर्जितं शुद्धं निर्मलमोक्षविषयं भवति मोक्षो विषयवैरस्यं बंधो वैषयिको रस इति स्मृतेः ॥९१॥

एतदेव दृढ़यति ।

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ।
यदा यदुन्मनीभावं तदा तत्परमंपदम् ॥ ९२ ॥

(मैत्रेयी)

यदा यस्यामवस्थायां मनश्चित्तं लयविक्षेपरहितं यथा चित्ताख्यो हंसः तस्य द्वौ पक्षौ लयः द्वितीयो विक्षेपः तत्र लयो निद्रा विक्षेपो जागरणं संकल्पकर्म ताभ्यां पक्षाभ्यां रहितं हीनं सुनिश्चलं निर्वातदीपवदत्यंतनिश्चलं कृत्वा विधाय यदुन्मनीभावो मनसोरमनस्कत्वमुन्मन्यवस्था यदा स्यात् तदा तत्परमं पदं ब्रह्मधाम भवतीत्यर्थः ॥ ९२ ॥

तस्मान्मनोविरोध एव परमोपाय इत्याह श्रुतिः ।

तावन्मनो निरोधव्यं यावद् हृदि गतक्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषोन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ ९३ ॥

(ब्रह्मविन्दुः । मैत्रेयी)

तावत्तदवधि मनो निरोधव्यं यतश्चलप्रकृतित्वादनेकविषयेषु धावति तेभ्यो विषयेभ्यो अनित्यत्वाऽसंबंधित्वदोषोपदेशेन नियमनीयम् यावद्यदवधि तदुपदेशाभ्यासात् हृदि आत्मनि तन्मनःक्षयमनस्कत्वं गतं प्राप्तं स्यात् तत एतदवस्थाविषयं ज्ञानं ब्रह्मज्ञानं मोक्षं मुक्तिश्च एष एव सारातिसारः अन्यशेषः शास्त्रसंग्रहः ग्रन्थविस्तरः कविकौशल्यविस्तार इत्यभिप्रायः ॥९३॥

तस्माद् ब्रह्मज्ञानं परमसुखदमित्याह श्रुतिः ।

समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदंतःकरणेन गृह्यते ॥ ९४ ॥

(मैत्रायणी)

समाधिनिर्धौतमलस्य समाधिः सर्वं ब्रह्मेतिचित्तैकाग्र्यं तेन निर्धौता अत्यन्तनिवृत्ता आवरणमायिकोर्मिका मला यस्य चेतसः शुद्धमनसः । च पुनः आत्मनि स्वस्वरूपे ब्रह्मणि निवेशितस्य स्थितस्य यत्सुखं परमानंदो भवेत् । ननु तत्कीदृशं सुखं वर्त्तते इत्यत्राह तत्सुखं गिरा देववाण्यापि वर्णयितुं न शक्यते तदा तस्मात् ब्रह्मविदा स्वयमेव तत्सुखं अन्तःकरणेन शुद्धमनसा

गृह्यते ज्ञायते। उक्तं च वसिष्ठेन। न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः। दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्वस्थया धियेति ॥ ९४ ॥

तस्माच्चित्तैकाग्र्यमेव संसारक्षय इत्याह।

अपामापोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत्।
एव मंतर्गतं यस्य मनः स परिमुच्यते ॥ ९५ ॥

(मैत्रायणी)

यथा अपामपः जलांतःक्षिप्तं जलं यथाग्निरग्नौ यथा व्योम्नि व्योम अखण्डाकाशाऽभिन्नघटाद्यवच्छिन्नं घटाद्याकाशं न लक्षयेत् न लभ्यते एवमेव यस्य ज्ञानविदो मनः-स्वात्मस्वरूपे ब्रह्मणि अंतर्गतमंतर्लीनं स्यात् स पुरुषः परिमुच्यते मुक्तो भविष्यतीत्यर्थः॥९५॥

एतदेव दृढ़यति।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।
बंधाय विषयासक्तं मोक्षो निर्विषयं स्मृतम् ॥ ९६ ॥

(ब्रह्मविन्दुः)

मन एवाऽशुद्धं शुद्धं च एतदेव मनुष्याणां बंधमोक्षयोः कारणं हेतुर्भवति यतो विषयासक्तं बंधाय चेन्मनः सांसारिकपदार्थेषु मग्नं स्यात् तदा बद्धमेव जानीयात् निर्विषयं विषयवासनाहीनं मोक्षः॥९६॥

पुनरप्येतदेव दृढ़यति।

यस्तु विज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ९७ ॥

(कठवल्ली १।३।५।)

तु पक्षांतरे परोक्षज्ञानपक्षे यः पुरुषो विज्ञानवान्सर्वं ब्रह्मेति निश्चयवान्भवति कथंभूतः अयुक्तेनास्थिरेणाशुद्धेन मनसा युक्त इति शेषः तस्य पुरुषस्य सदैवेन्द्रियाणि सारथेः सूतस्य दुष्टाश्वा दुर्वाजिन इव अवश्यानि वशीभूतानि न स्युः॥९७॥

पुनरप्येतदेव वैपरित्येनानुवर्णयति।

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ९८ ॥

(कठवल्ली १।३।६।)

तु अपरोक्षज्ञानपक्षे पक्षान्तरे यः कश्चित्पुरुषो विज्ञानवान्सर्वं ब्रह्मेति निश्चयी युक्तेन स्थिरेण शुद्धेन मनसा युक्तश्च भवति तस्य सदैव इंद्रियाण्यंतर्बहिः करणानि सारथेः रथवाहिनः सदश्वा सुशीला हया इव वश्यानि स्ववशीकृतानि भवंतीत्यभिप्रायः॥९८॥

यस्त्व विज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥९९॥

(कठवल्ली १ । ३ । ७ ।)

तु पक्षांतरे यो विज्ञानवान्सर्वं ब्रह्मेति निश्चयकारी अमनस्को मनोहीनः सदाशुचिः नित्यमेवापवित्रः स पुरुषस्तत्पदं तस्य ब्रह्मणः पदं धाम नाप्नोति किंतु संसारं पुनःपुनर्जन्म-मृत्यादिभावं चाधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥९९॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः । सतु तत्प-दमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥१००॥

(कठवल्ली १ । ३ । ८ ।)

यो विज्ञानवान् ब्रह्मज्ञाता समनस्कः मनोयुक्तः जितचित्तो भवति कीदृशः सदा नित्यमेव शुचिः तु निश्चये स पुरुषः तत्पदं प्रसिद्धं ब्रह्मधाम आप्नोति यस्माद् ब्रह्म धाम्न ब्रह्मविद्भूयो न जायते पुनर्जन्म तस्य न भवति यतो यावन्मनःस्थितिर्भवति तावद्ब्रह्मभुव-ननिवासः ततः पुनर्जन्मापि स्यात् यदा स्वात्मनि ब्रह्मरूपे लीनं स्यात् वासनावासितं स्यात् तदा ब्रह्म-धामप्राप्तिं जानीयात् तदा पुनर्जन्म न भवेत् । उक्तं च भगवद्गीतासु । आब्रह्मभु-वनाँल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१००॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम् ॥१०१॥

(कठवल्ली १ । ३ । ९ ।)

तु पक्षांतरे यो नरः पुरुषः पुरुषत्वबलेन धीरः इंद्रियाश्वयुतशरीराख्यरथोपविष्ट इति शेषः । विज्ञानसारथिः विज्ञानं शुद्धबुद्धिः सारथिः रथवाही । यस्य मनःप्रग्रहवान् विशुद्धचित्ताभिधरश्मियुतश्च भवति स पुरुषः अध्वनः संसारमार्गस्य पारमाप्नोति । न तु तत्पारं किमित्यत्राह तद्विष्णोः सर्वव्यापकस्य ब्रह्मणः परमं पदम् सर्वोत्कृष्टधाम भवती-त्यर्थः ॥१०१॥

ननु सा ब्रह्मधामप्राप्तिः कीदृशी तत्राह ।

यथा निरीन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥ १०२ ॥

(मैत्री ६ । २४ ।)

यथा येन प्रकारेण निरींधनो वह्निर्दग्धकाष्ठोऽग्निः स्वयोनौ पवनात्मनि कारणे शनैः शनैरुपशाम्यति लीयते तथैव वृत्तिक्षयात्संकल्पविकल्पाख्यव्यापारसंहारतः चित्ताभिधं चैतन्यं स्वयोनौ कारणे उपशाम्यति तत्सायुज्यमाप्नोतीत्यर्थः ॥१०२॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ १०३ ॥

(मुण्डक २ । २ । ४ ।)

प्रणवः ओंकारः धनुश्चापो भवति । हि निश्चितं आत्मा जीवात्मा शरो बाणो भवति। प्रणवाख्ये धनुषि आत्माख्यः शरः संयोज्यः । पुनस्तद्ब्रह्म लक्ष्यं वेधयोग्यं चिह्नमुच्यते कथ्यते । तल्लक्ष्यं अप्रमत्तेन सावधानेन स्थिरचित्तेन पुरुषेण वेद्धव्यं वेध्यम् । ततो जीवात्मा शरवत् यथा स्थिरचित्तवृत्तियुक्तशरो लक्ष्येण साकं सायुज्यमाप्नोति तथैव ब्रह्मलक्ष्येण सह तन्मयस्तदाकारो भवेदित्यर्थः ॥१०३॥

तत्राप्यपरां युक्तिं वितनोत्यन्या श्रुतिः ।

लक्ष्यं सर्वगतं चैव शरः स्यात्सर्वतोमुखः ।
वेद्धा सर्वगतश्चैव विद्धं लक्ष्यं न संशयः ॥ १०४ ॥

यथा लक्ष्यं सर्वगतं सर्वव्यापकं भवति तथैव जीवात्माख्यः शरोपि सर्वतोमुखः सर्वत्राहमेवेति ज्ञाता स्यात् । वेद्धा सर्वगतश्चैव यदा वेद्धृरूपशराख्य आत्मा यतः शरो जडात्मकाष्ठमयो भवति । तेन सह वेद्धा स्वचित्तात्मना बह्वात्मना च सह-गामी न स्यात् । बाणः कुत्र गमिष्यति । तस्मात् शररूपेण वेद्धैव सर्वव्यापकः स्यात् तदा तल्लक्ष्यं ब्रह्मविद्धं स्यात् यतो वेधाख्यः शरः सर्वत्राहमिति भावतया सर्वव्यापके ब्रह्मणि लीयेत ब्रह्ममयः स्यात् । तदाशिष्ट ब्रह्मैव स्यात् । एतदेव ब्रह्मात्मकलक्ष्यवेधनं भवति । अत्र कश्चित्संशयो नास्तीत्यर्थः ॥१०४॥

ननु तल्लक्षं कुत्र वर्तते इत्यत्राध्वानमुपदिशति श्रुतिद्वयम् ।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यस्तु महान्परः ॥ १०५ ॥

(कठवल्ली ३ । १० ।)

आदावेतस्मात् दृश्याच्छरीरादिंद्रियाणि चक्षुरादीनि ज्ञानेंद्रियाणि वागादीनि कर्मेंद्रियाणि चापराख्यप्रस्थानि वर्त्तते । तेभ्यः हि निश्चये अर्थाः शब्दस्पर्शादयो विषयाः तन्मात्राणि च परा अग्रस्था भवंति । तेभ्यो मनः संकल्पविकल्पकारिचित्तांतःकरणं परमग्रस्थं भवति । तस्माद् बुद्धिः निश्चयकारिणी धीः परा अग्रस्था भवति । तस्या यो महानादिज्ञानक्रियात्मकम् महत्तत्त्वं स परोऽग्रस्थो वर्तते ॥१०५॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥ १०६ ॥

(कठवल्ली ३ । ११ ।)

तस्मादव्यक्तं कार्यकारणोत्पादकं प्रधानं परमग्रस्थं भवति । तस्मात्पुरुषः सर्वातीतं सर्वमयं च ब्रह्मास्ति । तस्मात्परं न किंचिद्वर्त्तते । यतः सैव काष्ठा मर्यादा वर्तते । सैव परा गतिः परमगतिश्चैव भवति तदेव लक्ष्यं जानीयादित्यर्थः ॥१०६॥

ननु जीवात्मपरमात्मानौ चिद्रूपादेव तत्र चेज्जीवात्मा लीयते तदा परमात्मनाशप्रसंगः स्यादित्यत्राह ।

दृढसंभूतमाकाशं लीयमाने घटे यथा ।
घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो घटोपमः ॥१०७॥

(ब्रह्मविन्दुः १३ ।)

यथा घटे आकाशं दृढसंभूतं संभावितं स्थितं भवति ततः तस्मिन्नेव घटे लीयमाने भग्ने सति घट एव लीयेत नश्येत न त्वाकाशं नश्यति तद्वत्तथैव जीवात्मापि घटोपमः घटसमानो मायासबलजीवभाव एव नश्यति नतु चैतन्यम् तस्माच्चिद्रूपं जीवात्मपरमात्मसंज्ञं ब्रह्माविनाश्येवेति भावः ॥१०७॥

ननु चेज्जीवात्मपरमात्मानावेकरूपावेव तदा जीवात्मा घटोपमः कथमित्यत्राह ।

घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः ।
उद्भानं न च जानाति स जानाति च नित्यशः ॥१०८॥

(ब्रह्मविन्दुः १४ ।)

जीवात्मा आत्मानं देहं घटवद्विविधाकारं देवतिर्यगादिरूपम् तथैव पुनः पुनर्भिद्यमानं जन्ममरणादिवशं उद्भानं म्रियमाणं मृतं वापि न जानाति अन्यत्कुतः च पुनः स परमात्मा नित्यशः सर्वं जानाति । एष एव जीवात्मपरमात्मनोर्भेद इत्यर्थः ॥१०८॥

अनया पूर्वोक्तश्रुत्या जीवात्मस्वरूपं वर्णितम् । अथेदानीं परमात्मस्वरूपं वर्णयति श्रुतिः ।

यत्तदद्दश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः । अश्रोत्रं यत्तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं । तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः ॥१०९॥

(मुण्डकश्रुतिः १ । १ । ६ ।)

यत्तदनिर्वाच्यं ब्रह्म अदृश्यं । अग्राह्यं । अगोत्रं गोत्रसंज्ञाहीनं । अवर्णम् तथैव देहाभावादचक्षुः लोचनहीनः । अश्रोत्रं श्रवणशून्यं । यत्किं दृश्यादृश्यं तदेव चिन्मयत्वात् अपाणिपादं हस्तचरणादिवर्जितम् नित्यं निराकारत्वात् विभुं व्यापकं सर्वगतं सर्वज्ञं सुसूक्ष्मं सूक्ष्मतरं तत्प्रसिद्धं तथैवाव्ययम् । तत्किं यत् ब्रह्म धीराः जितमनस्काः पुरुषाः परिपश्यंति परितो जानंति । कथंभूतं भूतयोनिम् भूतानां चराचराणां लोकानां योनिं पटस्य तंतव इव उत्पत्तिकारणमित्यभिप्रायः ॥१०९॥

तस्मात्सर्वकारणं ब्रह्मैवेत्याह ।

यथा पृथिव्यामोषधयः संभवंति यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि।
तथाक्षरात्संभवंतीह विश्वं नानाविधं देवनरादिरूपम् ॥११०॥

(मुण्डक १।१।७।)

यथा येन प्रकारेण पृथिव्यामोषधयः वृक्षलतागुल्मशस्यतृणादिकानि संभवंति उत्पद्यंते पृथिवीमयानि च भवंति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि उत्पद्यंते तन्मयानि च भवंति। तथैवेह संसारे अक्षरादविनाशिनो ब्रह्मणः नानाविधमनेकप्रकारं देवनरादिरूपम् अमरकिन्नरनरवानरतरुवरसरोवरखेचरादिरूपं विश्वं जगत् संभवति जायते कनककुण्डलादिवत् तद्रूपं च भवतीत्यर्थः ॥११०॥

ननु सर्वं ब्रह्मेति वेदा वदंति लोकानां विश्वासः किं न संभवति तत्राह।

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्येषु सर्वम्।
प्रतिष्ठितं तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको
न येषु जिह्ममनृतं न माया ॥१११॥

(प्रश्न १।१२।)

तेषामेव पुरुषाणां ब्रह्मलोको ब्रह्मधाम भवति तेषां तपो ज्ञानं भवति यस्य ज्ञानमयं तप इति श्रुतेः तथैव ब्रह्मचर्यं ब्रह्मण्येव चर्या सर्वं ब्रह्मेत्याचरणम् च तथैव येषु सत्यं यथार्थस्थितिः प्रतिष्ठितं स्थिरं भवति। यतो जगत् द्वितीयेंदुवद्भ्रान्तिमात्रमेव यथार्थतस्तु ब्रह्मैव भवतीति भावः। तेषामेव पुरुषाणामसौ प्रकाशस्वरूपो विरजास्त्रिविधमलव्यतिरिक्तो ब्रह्मलोको भवति। येषु जिह्मं कौटिल्यं सकामं कर्म नास्ति। अनृतं सत्यं नानाविधजगत्परिज्ञानं च नास्ति माया-दंभः बाह्यकरणानि संयम्यांतःकरणेन विषयस्मरणं च नास्ति। उक्तं च श्रीमद्भगवद्गीतासु "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते" इति ॥ १११ ॥

अथैवंविधतया सूर्यमयूखा इव समुद्रे तरंगा इव वह्नौ ज्वाला इव सर्वं दृश्यादृश्यं जगद् ब्रह्मण्येव वर्तते इत्याह।

एवं ह वै तत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठतं। पृथिवी च पृथिवीमात्राश्चापश्चापोमात्राश्च। तेजश्च तेजोमात्राश्च। वायुश्च वायुमात्राश्चाकाशं चाकाशमात्राश्च। चक्षुश्च द्रष्टव्यं च। श्रोत्रं च श्रोतव्यं च। घ्राणश्च घ्रातव्यं च। रसश्च रसयितव्यं च। त्वक् च स्पर्शयितव्यं च। वाक् च वक्तव्यं च। हस्तौ च दातव्यं च। पादौ च गंतव्यं च। पायुश्च विसर्जयितव्यं। चोपस्थं चानन्दयितव्यं च। मनश्च मंतव्यं च। बुद्धिश्च बोधव्यं चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च।

चित्तं च चेतयितव्यं च । तेजश्च विद्योतयितव्यं च । प्राणश्च विचेष्टितव्यं च ॥११२॥

(प्रश्न ४ । ८ ।)

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ह वा निश्चये एतदादि प्रच्छन्नाप्रच्छन्नस्वरूपं सर्वं सकलं जगत् परे आत्मनि परमात्मनि ब्रह्मणि संप्रतिष्ठते सम्यक् निश्शेषतया प्रतिष्ठते प्रकर्षेण स्थितिं करोति । यथा पृथिवी च भूमिः पृथिवीमात्राश्च गंधः । आपो जलं आपोमात्राश्च रसः । तेजोग्निश्च तेजोमात्राश्च रूपं च वायुश्च वायुमात्राश्च स्पर्शश्च आकाशं च आकाशमात्राश्च शब्दश्च । चक्षुश्च नयनं च द्रष्टव्यं च दृश्यं च । श्रोत्रं च श्रवणं च श्रोतव्यं च श्राव्यं च । घ्राणश्च नासिकाश्च घ्रातव्यं च घ्रेयं च । रसश्च स्वादश्च रसयितव्यं स्वादयितव्यं । त्वक् च चर्म च स्पर्शयितव्यं च स्पृश्यं च वाक् च वाणी च वक्तव्यं च वाक्यं च हस्तौ च दातव्यं च पादौ च गंतव्यं च । पायुश्च विसर्जयितव्यं त्याज्यं च । उपस्थं शिश्नं च आनन्दयितव्यं चाह्लाद्यं च । मनश्चित्तं च मंतव्यं च संकल्पविकल्पानि च बुद्धिश्च बोद्धव्यं । ज्ञेयं च अहंकारश्चाहं कर्तव्यं च । चित्तं च चैतन्यं च चेतयितव्यं चेत्यं च । तेजश्च प्रकाशश्च विद्योतयितव्यं च प्रकाश्यं च प्राणश्च विचेष्टितव्यं च विचेष्टनीयं चेत्यादि सर्वं यत्किंचिद्वस्तु तद्ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठितमित्यर्थः ॥ ११२ ॥

ननु पूर्वोक्तया श्रुत्या सर्वं ब्रह्मैव प्रतिष्ठितम् तदा तद् ब्रह्म स्वयं कीदृशमित्यत्राह ।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मंता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः ॥११३॥

(प्रश्न ४ । ९ ।)

एष पूर्वोक्तस्वरूपपुरुषः । पुरि पुरि वसतीति पुरुषः । सर्वभूतान्तरात्मा द्रष्टा प्रेक्षकः श्रोता घ्राता रसयिता स्वादयिता मंता संकल्पयिता बोद्धा बोधकर्त्ता विज्ञानात्मा चिद्रूपो भवतीत्यभिप्रायः ॥११३॥

पुनरप्येतदेव महिमानं विवृणोति ।

सयोह्वैतदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते । यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति ॥११४॥

(प्रश्न ४ । १० ।)

स परमेश्वरोस्ति । स कः ह निश्चये यो भवति यतो निर्वाच्यः अनामरूपत्वात् वै निश्चये तदनिर्वाच्यम् ब्रह्म अच्छायं छायारहितं यतोऽशरीरं अतएवालोहितम् अरुणादिरागरहितं शुभ्रं निर्मलम् अक्षरमविनाशि ब्रह्म यस्तु पुरुषो वेदयते जानाति हे सौम्य शांतात्मन्नितं स पुरुषः सर्वज्ञः सर्वं ब्रह्म जानाति सर्वश्च सर्वात्मा भवतीत्यर्थः ॥ ११४ ॥

पुनरप्येतदेव वक्ष्यति श्रुतिः ।

यस्मिन्संलीयते शब्दस्तत्परंब्रह्म गीयते ।
ध्रुवं हि चिन्तयेद् ब्रह्म सोमृतत्वाय कल्पते ॥११५॥

यस्मिन्यत्र वस्तुनि शब्दोवेदः संलीयते नेति नेतीति निर्णीय श्रांतो भवति तत्त्वविद्भि-स्तत्परं ब्रह्मेति गीयते। हि निश्चये यः पुरुषः ध्रुवं सनातनं तत्परब्रह्म सर्वभूतात्मना चिन्तयेत् निर्णयं कुर्यात् स पुरुषः अमृतत्वाय मुक्तये कल्पते समर्थो भवतीत्यर्थः ।

ननु जगदभाववादिनां ब्रह्मवादिनां ब्रह्मविदां जगद्भासते न वा तत्राह ॥ ११५ ॥

ब्रह्माद्यं स्थावरांतं च पश्यंतो ज्ञानचक्षुषा ।
तमेकमेव पश्यंति परिशुद्धं विभुं द्विजाः ॥११६॥

(चूलिका १६ ।)

द्विजा ब्रह्म ज्ञानाख्यं संस्कारेण संस्कृताः ब्रह्मज्ञाः ज्ञानचक्षुषा ज्ञानमेव दिव्यं चक्षुः तेन तं पूर्वोक्तं परिशुद्धं निर्मलं निरुपाधिं विभुं व्यापकम् सर्वत्र सर्वस्मिन् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म पश्यंति। द्विजाः कथंभूताः ब्रह्माद्यस्थावरांतं च जगत्पश्यंतः द्वितीयं चन्द्रवद्भ्रान्ति मात्रतया वीक्षंतः। संगीतं श्रीमद्भगवद्गीतासु। या निशा सर्वभूतानामिति ॥ ११६ ॥

ननु जगत्सत्यतया भासते अथवा द्वितीयं चन्द्रवद्भ्रान्तिमात्रमेव भासतु परन्तु तद्विश्वं किमाधारं कुत्र लीयते इत्यत्राह श्रुतिः ।

यस्मिन्सर्वमिदं प्रोतं जगत्स्थावरजंगमम् ।
तस्मिन्नेव लयं याति बुद्बुदाः सागरे यथा ॥११७॥

(चूलिका १७ ।)

यस्मिन्ब्रह्मणि इदं सर्वं दृश्यादृश्यं प्रोतं तंतुपटवत् स्थिरं भवति अर्थाज्जगद्ब्रह्माधारं भवति तस्मिन् ब्रह्मण्येव जगल्लयं याति सागरे बुद्बुदा इव लीयते इत्यभिप्रायः ॥ ११७ ॥

ननु यथा कस्यचिद्राज्ञः स्वदेशे व्यापकतया स्थितस्य कस्मिंश्चिद्विषये राजधान्यपि-स्त्येव तथैव ब्रह्मणो व्यापकतयाऽनुरोमं स्थितस्य राजधान्यपि कुत्रास्तीत्याह ।

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवंति। नाभिः हृदयं कंठो मूर्द्धेति। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति। जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयमिति। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः। सुषुप्तौ रुद्रः। तुरीयं ब्रह्माक्षरं। स आदित्यो विष्णुश्चेश्वरश्च पुरुषः स प्राणः। स जीवः सोग्निर्जाग्रतस्तेषां मध्ये यत्परं ब्रह्म विभाति ॥११८॥

(महाविन्दुः १ ।)

अथानन्तरं अस्य पुरुषस्य ब्रह्मणः चत्वारि नाभिः हृदयं कंठो मूर्द्धेति स्थानानि राजधान्यो भवंति तत्र तेषु चतुर्षु स्थानेषु ब्रह्म विभाति विराजति कथं भूतं चतुष्पादं पद्यते क्रीड़ाचमत्कारं ज्ञायतेनेनेति पादाश्च चत्वारः पादा क्रीड़ा। क्रीड़ाविक्षेपा यस्य तत्पादानाह जागरितं समस्तेन्द्रियं विषयाजाग्रदवस्था तथैव स्वप्नं मनोविषया स्वप्नावस्था तथैव सुषुप्तं बुद्धि विषया सुषुप्तावस्था तथैव तुरीयं ब्रह्मविषया चतुर्थावस्थेति। तत्र जागरिते ब्रह्मा भूत्वा सर्गोत्पादनतया क्रीडति। स्वप्ने विष्णुर्भूत्वान्तःकारणाख्ये सर्गं निधाय पालयति। सुषुप्तौ रुद्रो भूत्वा सर्गं संहरति। तुरीयं स्वयमेवाक्षरं ब्रह्म तिष्ठति। स एवादित्यः स एव विष्णुः स एवेश्वरः स एव पुरुषः स एव प्राणः स एव जीवः स एवाग्निः स एव जाग्रतः जाग्रदवस्थायी तेषां मध्ये यत्परं ब्रह्म विभाति विविधस्वरूपतया विविधचरितत्वेन च भासत इत्यर्थः॥ ११८॥

अनया पुर्वोक्तश्रुत्या चतुर्विधावस्थायित्वात्सगुणं ब्रह्मोक्तम् इदानीं तूर्यातीतं निर्गुणं परं वर्णयति श्रुतिः।

स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्मयं। तत्र लोका न लोका। वेदा न वेदा। देवा न देवा। यज्ञा न यज्ञा। माता न माता। पिता न पिता। स्नुषा न स्नुषा। चंडालो न चंडालः। पौल्कसो न पौल्कसः। श्रमणो न श्रमणः। पशवो न पशवस्तापसो न तापस। इत्येकमेव परं ब्रह्म विभाति॥११९॥

(ब्रह्मविन्दुः)

तत् ब्रह्म स्वयं विभाति अमनस्कं मनःकृतसंकल्पविकल्परहितं अश्रोत्रं श्रोत्रेन्द्रियादिविवर्जितं तथैव पाणिपादं करचरणादिकर्मेन्द्रियहीनं। तथा च ज्योतिर्मयं चिद्रूपं ब्रह्मणि लोका न लोका न भवंति किन्तु बीजान्तद्रुमवद् ब्रह्ममया भवंति। पौल्कसोऽमेध्यवृत्तिकरः। श्रमणः तत्र संन्यासी। इत्येकमेव परं ब्रह्म सर्वस्वरूपेण विभाति विराजतीत्यर्थः॥ ११९॥

तस्मात्कर्ता कारणं कार्यं ब्रह्मैव भवतीत्याह।

जनो रूपं रसं गंधं शब्दस्पर्शांश्च मैथुनम्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥१२०॥

(कठवल्ली ४। ३।)

जनोयं लोकः रूपं रसं गंधशब्दस्पर्शांश्च मैथुनं योषित्संगाह्लाद इत्येतानि एतैनैव चिद्रूपेण ब्रह्मणा विजानाति चिन्वति तस्मादत्र किं परिशिष्यते किंचिन्न यतो जनरूपेण कर्तापि स्वयमेव। चिद्रूपेण कारणं हेतुरपि रूपादिना कार्यमपि स्वयमेवेत्यर्थः॥१२०॥

पुनरप्येतदेव विवृणोति।

स्वप्नान्तं जागरितांतं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥१२१॥

(कठवल्ली २ । ४ ।)

अयं लोकः स्वप्नस्यादिमंते च तथैव जागरितांतं जगरितस्याप्याद्यं तौ एतावुभौ येन चैतन्यात्मकेन ब्रह्मणा हेतुभूतेनानुपश्यति तमीदृशं महान्तं सर्वोत्कृष्टं विभुं व्यापकं आत्मानं सर्वभूतात्मानं मत्वा ज्ञात्वा धीरः आत्मज्ञानेन धीर्यवान् न शोचति मोहशोकादिवशो न भवतीत्यभिप्रायः ॥१२१॥

ननु चेद्ब्रह्मविन्मोहशोकादितंत्रो न भवति तत्र को हेतुरित्यत्राह ।

हंसः शुचिषद्वसुरंतरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोण सत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जागोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥१२२॥

(कठवल्ली ५ । २ ।)

हंसः सर्वान्पापान्दुःखांश्च हंतीति हंसः यद्वा क्षीरनीरपरीक्षया हंस इति कथ्यते क्षीरमात्मस्वरूपं नीरं । मायास्वरूपं तत्रापि मायातःस्वात्मस्वरूपं पृथक्कर्त्तुं समर्थः अथवा हंसावतारतया च हंस इति कथ्यते । तस्माद्धंसः श्रीनारायणः कीदृशः । शुचिषत् पवित्रनिर्मलविषयासीनः । तथा वसुः सनातनरूपः अंतरिक्षसत् यत्किंचित्सदसद्वस्तु तन्मध्ये तिष्ठमानः । होता संसाराख्ययज्ञकर्ता । वेदिषत् यज्ञस्थाल्यामपि निविष्टः । अतिथिरपि स एव दुरोणसत् मायनिवर्तकः । तथैव नृषत् यद्यपि सर्वत्र ब्रह्मैव निवसन्ति तथापि मनुष्येषु प्रकाशतया निविष्टः । ऋत सत् ऋतं सत्यं येन सत्येन सर्वं सत्यं भवति तत्रापि निवसमानः व्योम सत् आकाशवास्यपि स एव अब्जा जलमध्येपि निविष्टः । गोजा पृथ्व्यांतर्निवासकृत् । ऋतजा ऋतं च सूनृता वाणी तत्रापि वसति । अद्रिजा पर्वतादिष्वपि तिष्ठमानः । तदेव ऋतं सत्यं भवति अतो मोहशोकसुखदुःखादिविषयेषु ब्रह्मैव भवति तस्मात्मोहद्यवसरः कुत इत्यर्थः ॥ १२२ ॥

ननु प्राण एवात्मा किं यतोनेनैव पुरुषो जीवतीत्यत्राह ।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेणानुजीवंति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१२३॥

(कठवल्ली ५ । ५ ।)

कोऽपि पुरुषः न प्राणेन न जीवति नापानेन ननु सर्वे जीवाः पुनः केन जीवंति तत्राह एते प्राणिनः इतरेण चिद्रूपेण जीवंति चेष्टां कुर्वंति । ननु तत्किं ब्रह्म तत्राह यस्मिन् ब्रह्मणि एतौ प्राणापानावुपाश्रितौ तदाधारौ भवतः । यत एतयोरपि स्वकीयं चैतन्यं नास्ति । ननु प्राणोपि चेज्जड एव तदायं जड़ात्मानन्देहं कथं चेष्टयते इत्यत्राह यथेन्द्रिजालमंत्रश-

कैकमुद्रिकेतरमुद्रिकां प्रेरयति चालयति च तथैव । तद् ब्रह्मचैतन्यतया जड़ात्मापि प्राणी जड़ात्मानं चालयतीति भावः ॥१२३॥

पुनरप्यन्याभावात्तदेव ब्रह्मानुवर्णयति ।

यस्मिन्निदं सर्वविदेति सर्वं यस्मिन्देवा अपि विश्वे निषेदुः ।
तदेव भूतं तदु भव्यमानमिदं तदक्षरे परमे व्योमम् ॥१२४॥

(महानारायणः १ । २ ।)

यस्मिन्ब्रह्मणि इदं दृश्यादृश्यं यदाधारं भवति यः सर्ववित् सर्वज्ञोपि सन्सत् सर्वं सकलं एति व्याप्नोति तथैव यस्मिन्ब्रह्मणि अपि अध्याश्रित्य विश्वे देवाः सर्वे देवादयः निषेदुर्निविष्टाः तदेव ब्रह्मभूतं अतीतं उ निश्चये तदेव ब्रह्म भव्यमानं भविष्यद् भवति तदेवेदं वर्तमानमपि तदेवं भवति अथवा तदिदं सर्वं अक्षरेऽविनाशिनि परमे व्योमन् परमाकाशस्वरूपे ब्रह्मणि वरीवर्तीत्यर्थः ॥१२४॥

पुनरप्येतदेव विवृणोति ।

येनावृतं खं च दिवं च महीं च येनादित्यस्तपति भ्राजमानः ।
यदंतः समुद्रे कवयो वदंति तदक्षरे परमे प्रजाः ॥१२५॥

(महानारायणः १ । ३ ।)

येन ब्रह्मणा खमंतरिक्षं च आवृतं पूरितं भवति । तथैव दिवं द्यौ एवमेव महीं येन ब्रह्मणा आदित्यः सूर्यस्तपति किं भ्राजमानः प्रकाशमानः । यद् ब्रह्म समुद्रांतर्वर्तते तत्तस्मिन्नक्षरे परमे ब्रह्मणि प्रजाः प्रकर्षेण नानाविधतया जाता ब्रह्मादिस्थावरांता योनयो भवंतीति कवयो ब्रह्मविदो भवंति कथयन्तीत्यर्थः ॥१२५॥

यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिस्तोयेन जीवान्विससर्ज्य भूम्याम् ।
यत्रौषधीभिः पुरुषान्पशूंश्च विवेश भूतानि चराचराणि ॥१२६॥

(महानारायणः १ । ४ ।)

यतो ब्रह्मस्वरूपात्स्वात्मनः प्रसूताञ्जीवान् जगतश्च विश्वस्य प्रसूतिरुत्पत्तेर्हेतोः तोयेन वर्षाजलेन सह भूम्यां पृथिव्यां विससर्ज त्यक्तवान् ततश्च ओषधीभिरन्नादिभिः सह पुरुषान् मनुष्यादीन् पशून्मृगादीन् तथैव चराचराणि भूतानि विवेश प्रविष्टवान् तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति श्रुतेः ॥१२६॥

अतःपरं नान्यदणीयसं हि परात्परं यन्महतां महान्तम् ।
अनेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ॥१२७॥

(महानारायणः १ । ५ ।)

हि निश्चये अतो ब्रह्मणः परं अन्यत्परं अणीयसं सूक्ष्मं नास्ति । च पुनः परात्परं च नास्ति । च महतां महान्तं स्थूलतरं च नास्ति। तथैव तदेव अनेक नानाविधं अव्यक्तमप्र-

काशं अनन्तरूपमाद्यंतरहितं विश्वं विश्वमयं पुराणं पुरातनम् तमसः मायांधकारात्पर-स्तात्परं भवतीत्यर्थः ॥१२७॥

पुनरपि तद्ब्रह्मगुणवर्णनं करोति ।

तदेवैतत्तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परं कवीनाम् ।

इष्टापूर्तं बहुधा जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः ॥१२८॥

(महानारायण: १ । १ ।)

ब्रह्मैवं तदिदं चराचरं जगद्भवति उ निश्चये ब्रह्मविदस्तद्ब्रह्म सत्यं यत्सत्यतयाऽसत्यं जगदपि सत्यवद्भाति इत्याहुर्वदंति । च पुनस्तदेव ब्रह्म कवीनां वेदशास्त्रकर्त्तॄणां वक्तॄणां च परमनिर्वाच्यं । तत्किं यद् ब्रह्म विश्वं सकलं जगद्बिभर्ति धारयति विश्वं कथं-भूतं इष्टापूर्तं इष्टा च यज्ञादिभिश्च पूर्तं च कूपतडागप्रतिष्ठादिपुण्यकर्मभिश्च बहुधा देवराजादि स्वर्देवभूदेवनरराजादिरूपेणानेकधा जायमानं प्रादुर्भूतम् तत्किंभूतं भुवनस्य चतुर्दश भुवनांगिनो ब्रह्माण्डस्य नाभिर्मध्यं मध्यस्थमित्यर्थः ॥१२८॥

पुनरप्येतदेवानुवर्णयति ।

तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः ॥१२९॥

(महानारायण: १ । ७ ।)

तदेव ब्रह्मैवाग्निरस्ति तदेव शुक्रं सदसतोर्बीजं तदेव विस्तीर्णरूपिणी प्रकृतिः तस्मात्सर्वं तद्ब्रह्मैवेत्यभिप्रायः ॥ १२९ ॥

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।

उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥१३०॥

(रामपूर्वतापिनी ७ ।)

स्पष्टमेतत् ॥ १३० ॥

ननु तद्ब्रह्म ब्रह्मादिस्थावरांतान्रूपान कुत्रचित्स्थापयित्वा प्रकाशयति किंवा तत्कालमेव विधाय प्रकाशयतीत्यत्राह ।

यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः ।

तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥१३१॥

(रामपूर्वतापिनी ११ ।)

यथैव वटबीजस्थः वटपादपस्य बीजं तस्मिन्तिष्ठति यः स प्रकृतश्च प्रकर्षेण कृतः मूलाद्यंकुरशाखाप्रशाखा पत्रपुष्पफलबीजांतसंपादितो महाद्रुमः तथैव रामबीजस्थं रामः आब्रह्मतृणपर्यन्ते जगति सर्वभूतान्तरात्मना रमति क्रीडति रामः अथवा सकल जगत्-

सर्वभूतांतरात्मना रमयति नर्तयतीति रामः यद्वा येऽत्र रामाख्ये ब्रह्मणि योगिनो रमंति विश्रमयंतीति रामः। उक्तं च "रमन्ते योगिनो यत्र सदानन्दे चिदात्मनि इति राम-पदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते इति तस्माद्रामेति नाम्ना परं ब्रह्मेत्युच्यते। तच्च तत् बीज-मुत्पत्तिकारणं तत्स्थमेतद् दृश्यादृश्यं चराचरं जगद् भवति। यथा बीजस्थो वृक्ष आदा-वपि बीजात्मनैव भवति ततोंकुरोत्पत्तौ बीजरूपेण जायते पुनरप्यंते बीजात्मनैव तिष्ठति एवमेवादौ तद्ब्रह्माख्यबीजस्थं तन्मयमेव-सकलं चराचरं जगदासीत्। मध्येपि तद्रूपेणैव प्रादुर्भूतम् अन्तेपि तदात्मनैव तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १३१ ॥

इदानीमनेकनामकमेकं ब्रह्मैवेत्याह।

स एव ब्रह्मा स शिवः शक्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स आत्मा परमेश्वरः ॥ १३२ ॥

(महानारायण: ११ । १३ ।)

सोऽतर्क्यमहिमा श्रीनारायणः ब्रह्म नानाविधजगदुत्पादको भवति स एव शिवोस्ति स एवेंद्रोस्ति स एव पूर्वोक्तोऽक्षरोविनाशिस्वरूपः अनेन ज्ञातमन्यत्सर्वं विनाशिरूपम् ॥ १३२ ॥

स एव सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पंथा विमुक्तये ॥ १३३ ॥

(कैवल्योपनिषत् ८ ।)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्ब्रह्मपरमं याति नान्येन हेतुना ॥ १३४ ॥

(कैवल्योपनिषत् १० ।)

पुनरप्येवमेव मुक्तिमार्ग इत्याहः।

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वातत्त्वाधिकं च तत् ॥१३५॥

(कैवल्योपनिषत्)

यत्परंब्रह्म सर्वात्मा तत्त्वमेवंत्वमेव तत् यस्य विश्वस्य चराचरस्य जगतः महदायतनं परमाश्रयो भवति सूक्ष्मादणुतोपि सूक्ष्मं नित्यं निश्चलं तत्वात् पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश-शब्दस्पर्शरूपरसगंधचक्षुःश्रवणत्वग्रसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनोबुद्ध्यहंकारचित्ता

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपंचो यत्प्रकाशते ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते ॥ १३६ ॥
(कैवल्योपनिषत् १७ ।)

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपंचं यत् येन चैतन्यरूपेण प्रकाशयते ज्ञायते तद्ब्रह्मा-हमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयावरणात्मकैः प्रमुच्यते मुक्ता भवतीत्यर्थः ॥ १३६ ॥

पुनरपि सगुणनिर्गुणद्वारैतद्दर्शयति ।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥१३७॥
(कैवल्योपनिषत् १८

त्रिषु धामसु भूर्भुवः स्वरिति तेषु यद्वा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्था इति त्रिषु स्थानेषु यत्किंचिद्भोज्यभोग्यं अथवा यो भोक्ता भोगकर्त्ता वा भोगश्च यत् यो भवेदस्ति । तेभ्यो विलक्षणो व्यतिरिक्तः श्रीनारायणः एतेषामसत्यत्वात् । यदुक्तं वसिष्ठेन "ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवमिति" अतएव साक्षी साक्षीभूत्वा स्वस्वरूपचमत्कारप्रेक्षकः यत-श्चिन्मात्रः अतएव सदाशिवः सर्वदा आनन्दस्वरूपः यः सोहमिति मत्वा पुरुषः सर्वबंध-मुक्तो भविष्यतीति पूर्वेण संबंधः ॥१३७॥

पुनरपि ब्रह्मणः सर्वमयत्वं प्रतिपादयति ।

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो नास्ति न चांबरं च ॥
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥१३८॥
(कैवल्योपनिषत् २३ ।)

यत्परमात्मरूपं गुहाशयं गुहासु सर्वभूतहृदयेषु आशयस्थानं यस्य तत्सर्वभूतान्त-रात्मकं निष्कलं गुणातीतं अद्वितीयमेकं एवं विदित्वा ज्ञात्वा भूमिर्न भवति । आपो न जल-मस्ति । वह्निश्चाग्निर्नास्ति । न चानिलः पवनोस्ति । न चांबरमाकाशमस्ति । यथाकाशे विंबीभूतं सूर्यं दृष्ट्वानेकघटादिषु प्रतिविंबिता बहवः सूर्या बिम्बात्मनः सूर्यादन्यभावनया भिन्नात्मका न भासंते अपि तु तन्मया लभ्यंते । एवमेव भूम्यादयस्तस्माद् ब्रह्मणो भिन्नात्मका न प्रका-श्यंते अपि तु तदाकारा एव दृश्यंते इत्यर्थः ॥ १३८ ॥

तस्मात्सर्वयज्ञेभ्यो ज्ञानयज्ञः श्रेष्ठ इत्याह ।

समस्तसाक्षी सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥
ध्यायेज्जगद्बीजजगन्निवासं विश्वं जुहोति वसुधादिशिवावसानम्
॥१३९॥
(कैवल्योपनिषत् २४ ।)

यः पुरुषः आदौ जगद्बीजं मूलकारणं जगतो निवास आधारश्च तद्ब्रह्माग्निरिति-ध्यायेत् तत्तस्मिन्ब्रह्मस्वरूपे वह्नौ वसुधादिशिवावसानं वसुधायाजातीयस्तृणादिस्सएवा-दिर्यस्य शिव एवावसानमंतश्च यस्य तद्विश्वं जुहोति जुहुयात् तद्रूपतया जानीयात् यतो-कुरतया बीजमेव तिष्ठतीति विमर्शात्। सुवर्णकुण्डलवत्कारणसदृशं कार्य्यमिति न्यायाच्चे-त्यनेन मंत्रेण ज्ञानं यज्ञं कुर्यात् यदुक्तं गीतासु "श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप। सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" इति। सपुरुषः समस्तसाक्षि सकलकर्मणां साक्षि-भूतं सदसद्विहीनं अनिर्वाच्य नासदासीन्नोसदासीत्तदानीमिति श्रुतेः जगत्सद्वासद्वा गणयति परःकोपि सदसत्। तवैवाज्ञानाद्वा प्रभवति हि मिथ्यामतिरियम्। स किं सद्वासद्वा किमितिसदसद्वेति चन्वति। न वक्तुं जिह्वेस्त्वयि तु सदसद्भ्यां विरहिते इति न्यायाच्च शुद्धंविश्वोपाधिकलंकशून्यं परमात्मरूपं ब्रह्म प्रयाति तन्मयो भवति ॥ १३९ ॥

परमार्थतो ज्ञानवानेव मुक्तिभागी नान्य इत्याह।

कथ्यते स एव योगी स एव ज्ञानी च।

यत्पूर्णानन्दैकरसबोधस्तद्ब्रह्माहमिति कृतकृत्यो भवति ॥१४०॥

(परमहंसः ३।)

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।

मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माऽस्म्यहमद्वयम् ॥१४१॥

(कैवल्योपनिषत् १९।)

अणोरणीयान्महतोमहीयान्नात्माहं विश्वं विशुद्धः।

पुरातनः पुरुषोहमीशो हिरण्मयोहं पुरुषोहमस्मि ॥१४२॥

(कैवल्योपनिषत् २०।)

नारायणोहं पुरुषः शिवोहं ब्रह्माहमस्मि सकलोहमस्मि।

पूर्णोहमस्मि पुरुषोहमस्मि ज्ञानोहमस्मि सत्योहमस्मि ॥१४३॥

अपाणिपादोहमचिंत्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः सश्रृणोम्यकर्णः।

अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम् ॥१४४॥

(कैवल्योपनिषत् २१।)

वेदैरनैकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ॥१४५॥

(कैवल्योपनिषत् २२।)

विज्ञानं ब्रह्मचेद्वेद तस्माच्चेतो न प्रमाद्यति ।
शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान्कामान्समश्नुते ॥१४६॥

(तैत्तीरिय २ । ५ । १ ।)

स आत्मा विज्ञेयो सदोज्वलोविद्या तत्कार्याहीनः स्वात्म-बंधहरः । सर्वदाद्वैतरहितः आनन्दरूपः सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहोहम् ॥१४७॥

(नृसिंहोत्तरतापिनी २ ।)

यं यं लोके मनसा संविभर्ति । विशुद्धः कामः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोके जयते तांश्च कामान् । तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥१४८॥

(मुण्डक ३।१।१० ।)

यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः ॥१४९॥

(श्वेताश्वतर ६।२३ ।)

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रंथिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥१५०॥

(मुण्डक ३ । २ । ९ ।)

इतिश्रीब्रह्मोपनिषत्सारसंग्रहदीपिका समाप्ता ।

श्रीः ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीब्रह्मोपनिषत्सारसङ्ग्रहदीपिका।

भावार्थ

(१) वेदज्ञ ब्राह्मण स्वर्ग को जिस ब्रह्म का शिरोरूप वर्णन करते हैं। आकाश को नाभिरूप वर्णन करते हैं। चन्द्र और सूर्य्य को नेत्ररूप वर्णन करते हैं। दिशाओं को कर्ण-रूप वर्णन करते हैं। पृथ्वी को चरणरूप वर्णन करते हैं। सकल वस्तुओं में चैतन्यरूप से प्रतिष्ठित उस अन्तर्य्यामी परमात्मा को ध्यान करना चाहिये॥

टिप्पणी—इस श्रुति में—ब्रह्म का ध्यान सगुण और निर्गुण उभय रूप से विहित हुआ है। उनकी विराट् मूर्ति का वर्णन करके फिर चैतन्यरूप सर्व-भूत-हृदयस्थ परमात्मस्वरूप भी वर्णन किया गया है। अधिकार-भेद से अपनी समझ और रुचि के अनुसार लोग ध्यान करें। दोनों प्रकार की व्यवस्था पाई गई है। ब्रह्म के इसी द्विविध रूप को और एक दूसरी श्रुति समर्थन करती है।

(२) अग्नि जिसका मस्तक, चन्द्र सूर्य्य जिसके नेत्र, दिशा जिसके कान, चारों वेद जिसके वचन हैं, वायु जिसके प्राण हैं, दृश्यादृश्य जगत् जिसका हृदय है, क्षिति जिसके पैर हैं वह ब्रह्म सब वस्तुओं का अन्तः प्रतिष्ठित आत्मा है।

(मुण्डक २।१।४)

टिप्पणी—पुराणादि में भी ऐसे ही वचन पाये जाते हैं।

यथा—द्यौर्मूर्धानं यस्य विप्राः स्तुवन्ति। खं नाभिर्वै चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे चरणौचास्य भूमिः। सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रसूतिः।

(वायुपुराण नवमाध्याय श्लोक-संख्या १२० आनन्दाश्रममुद्रित पुस्तक)

अब इस सकल वस्तुओं के अन्तरात्मारूप ब्रह्म के आगे और पीछे के दिग्विभाग भी ब्रह्म ही है सो भी श्रुति कहती है।

(३) चैतन्यरूप कालादि से अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही पूर्व में है, पश्चिम में भी है, दक्षिण में है, और उत्तर में है, नीचे भी, ऊपर भी फैला है, यह उत्कृष्ट दृश्यादृश्य चराचर स्थूल सूक्ष्म जगत्—ब्रह्म ही है।

अब आगे इस श्रुति में ब्रह्मस्वरूपका वर्णन है—

(४) वह ब्रह्म बड़े स्थूल हैं, दिव्य हैं, अपरिमेय हैं, फिर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं। बहुत दूर हैं फिर बहुत समीप भी हैं। ब्रह्मज्ञ सब के हृदय-सिंहासन में प्रतिष्ठित उनको दर्शन करते हैं।

(मुण्डक २।१।७)

टिप्पणी—विरुद्ध धर्म का धारण ब्रह्म की शोभा है। अब दूसरी श्रुति से ब्रह्म की स्थिति का वर्णन दिखाया है।

(५) वह ब्रह्म एक है। प्रकाशात्मा है। सब वस्तुओं में छिपा हुआ बैठा है। सर्व-व्यापी (घट घट में वर्त्तमान) है। सब वस्तुओं का अन्तःप्रतिष्ठित चैतन्य रूप आत्मा है। सब का अध्यक्ष है। सब में निवास करता है। सब का साक्षी है। चैतन्य रूप है। अकेला और निर्गुण है।

(श्वेताश्वतर ६।११।)

टिप्पणी—दिव्य शब्द का दीपिकाकार ने दिवु क्रीडायाम् इस धातु से सम्बन्ध रक्खा है। सो ब्रह्म इस जगत् में क्रीड़ा करते हैं–अर्थात् खेल खेलते हैं इस लिये वह दिव्य हैं। हैं तो एक पर बहुरूपिया बन कर क्या क्या खेल दिखलाते हैं।

मूल में सर्वाध्यक्षः ऐसा पाठ दिया है। पर मुद्रित उपनिषत् में कर्म्माध्यक्षः यह पाठ बहुधा मिलता है। अर्थ यह है कि उपाधिस्थ होकर ब्रह्म सब का कर्म्म निरीक्षण करते हैं। इसी से साक्षी मात्र हैं। निर्लिप्त हैं। मध्यस्थ–उदासीन हैं। केवल (अलग) हैं। निर्गुण हैं (अर्थात् सत्वादि गुणातीत हैं)।

अब ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति का क्रम दिखाते हैं।

(६) उस ब्रह्मसे सब ब्रह्मा, विष्णु, महादेवादि देव उत्पन्न हुए हैं। साध्यादि देवता और मनुष्य और पशु-पक्षी उत्पन्न हुए हैं। प्राण वायु, अपान वायु, धान्य, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य ये सब और इन सब का विधान भी ब्रह्म से उत्पन्न हुए।

(मुण्डक २।१।७)

टिप्पणी—प्राण और अपान से यह समझना चाहिये कि अण्डजादि चार प्रकार की सृष्टि की चेष्टा प्राणापान ही से प्रवृत्त होती है। धान और यव से सब प्रकार के अन्न समझना चाहिये। इन सृष्ट जीवों का कथन करके उनके स्थिति कराने वाले धर्मों का भी वर्णन किया गया। सत्यादि विना कैसे इनकी धारणा हो सकती है। धर्म्म ही जगत् को धारण करता है। सृष्टि-रक्षार्थ उसकी भी आवश्यकता समझ कर धर्म्मोत्पत्ति की गई।

(७) ब्रह्म से सब समुद्र पर्वत उत्पन्न हुए, सब छोटी बड़ी नदियाँ बहने लगीं, ब्रह्म ही से सब ओषधियों की बिरई, सब प्रकारके मधुरादि षट् रस उत्पन्न हुए। उसी ब्रह्म के कारण सब पदार्थ जीते हैं। वह ब्रह्म सब के हृदय में बैठा है।

(मुण्डक २। १। ६।)

अब प्रश्न यह है कि जैसे दीवाल पर चित्रकार चित्र खींच कर रचता है, क्या इसी तरह ब्रह्म ने इस जगत् का चित्र स्वयं रचा है। या इनकी उत्पत्ति और किसी उपाय से हुई है ? इस प्रश्न का उत्तर इस श्रुति ने दिया है।

(८) जैसे प्रज्वलित अग्नि से हज़ारों एक रूप की अग्नि-कणिकायें निकलती हैं। उसी तरह हे महाशयो ! नाना प्रकार के पदार्थ उस अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। फिर उसी में लीन हो जाते हैं।

(मुण्डक २ । १ । १)

अब प्रश्न है कि ऐसे अद्भुत-शक्ति ब्रह्म का ज्ञान कैसे होवे ? इसका उत्तर श्रुति देती है।

(९) यह प्रत्यक्ष रूप, स्थूल रूप और सूक्ष्म रूप शुद्ध मन से परिज्ञेय है। इस मन में पांच प्राण प्रविष्ट हैं। उसी में श्वास और चित्त सब कपड़े में सूत की नाईं बुना है। जब वह मन शुद्ध होवे तब दर्पण पर प्रतिबिम्ब की नाईं ब्रह्म झलकने लगता है।

(मुण्डक ३ । १ । ९)

भला सब श्रुतियों में ब्रह्म तो एकही कहा गया है, तो ब्रह्म का उच्च-नीचत्व और स्थूल-सूक्ष्मत्व क्योंकर हो सकता है। इसका उत्तर कहते हैं।

(१०) जैसे एक ही अग्नि घर में लग कर नाना वस्तु के रूप को धारण करता है, ऐसे एक ही आत्मा हर एक जीवों में स्थित हो कर नाना रूप धारण करता है।

(कठवल्ली ५ । ९)

भला नारायण तो सर्वव्यापक हैं। तो उनको पदार्थों से अनुलिप्त हो जाना चाहिए। इस पर श्रुति कहती है कि यह बात नहीं।

(११) सूर्य्य सब का चक्षु है। पर नेत्र के दोष उसको नहीं लगते। इसी तरह सब वस्तुओं के अन्तरात्मा ब्रह्म भी लोगों के दुःख से बाहर हैं। लिप्त नहीं होते।

(कठवल्ली ५ । ११ ।)

टिप्पणी—एक सूर्य्य ही सब के नेत्र में देवतारूप वास करता है। उसी के प्रकाश से आँख देखती है। भला ब्रह्म यदि एक अद्वितीय है तो स्वर्गादिक पृथक् क्यों भासता है। इसका उत्तर—

(१२) न तो स्वर्ग लोक, न स्वर्ग लोकाधिपति देवता लोग ब्रह्म से अलग हैं। न भुवर्लोक न भूलोक उनसे पृथक् हैं। उसी ब्रह्म में ताना बाना की नाईं वे सब बुने हुए हैं। उस से बाहर कुछ भी नहीं है।

प्रश्न। भला अब कहिये ब्रह्म कैसा है ?

उत्तर।

(१३) न उस ब्रह्म के सामने सूर्य्य का प्रकाश होता है। न चन्द्र का। न उसके सामने बिजुली की चमक। आग की कौन कहे। उसी के प्रकाश से सब का प्रकाश है। इसी की चमक से सब चमकते हैं।

(मुण्डक २ । २ ।१० ।)

भला, भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है कि ब्रह्म को न सूर्य्य प्रकाश करता है न चन्द्र न अग्नि। इस कथन से यह सूचित होता है कि ब्रह्म से इनकी सत्ता पृथक् है। श्रुति उत्तर देती है। यह बात नहीं।

(१४) न ब्रह्म से कोई पहले हुआ न पीछे है। न कुछ हुआ न होगा। यह विश्व इसके पैर के तले और सिर के ऊपर जो कुछ (ब्रह्मा से तृण पर्य्यन्त) है वह सब उसी से व्याप्त है।

प्रश्न। भला सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन। यह श्रुति-वाक्य सत्य है तो वह ब्रह्म सब लोगों का क्यों नहीं दर्शन का विषय या ग्रहण का विषय है।

इसका उत्तर—

(१५) न वह आँखों से देख पड़ता है। न वाक्य से उसका कथन हो सकता है। वह न और इन्द्रियों से, प्राप्य है न तपश्चर्य्या से, न नित्य-नैमित्तिक कर्म्म से लभ्य है। ज्ञान-रूप भगवत्-प्रसाद से ही शुद्धचित्त होकर गुणातीत ब्रह्म को ध्यान करते करते "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (जो कुछ है यह सब ब्रह्म है) ऐसा उसको सूझने लगता है।

(मुण्डक श्रुति)

(१६) जो ब्रह्म हर एक जीव में स्थित है, जिसमें ये सब विचरते हैं। उस वर-दाता परेश स्तुत्य देव को निर्णय कर साधक अत्यन्त शान्ति को पाता है।

(श्वेताश्वतर ४। ११)

(१७) वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है, बड़े से बड़ा है। वह विश्व का आत्मा है। जीवों के हृदय में स्थित है। तत्त्व के जानने वाले उसको अकर्त्ता मानते हैं। भगवत्प्रसाद से उनके माहात्म्य को वह समझता है। और उसका शोक और मोह सब छूट जाता है।

अच्छा, ब्रह्म यदि सबका आत्मा है, तो सब जीवों को सुलभ होना चाहिए। श्रुति का उत्तर।

(१८) यह आत्मा बहुत कीर्त्तन से नहीं मिलता, न व्यावहारिक मिथ्या बुद्धि से, न बहुत शास्त्र-श्रवण से। यह आत्मा जिसको चाहता है उसी को मिलता है। उसी को आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है।

(कठवल्ली २। २३।)

अब श्रुति से यह पाया जाता है कि आत्मज्ञानी को परमानन्द का लाभ होता है।

(१९) वह एक स्वतन्त्र है। सकल जीवों का अन्तर्य्यामी आत्मा है। अपने एक रूप को बहुत रूप कर दिखाता है। जो धीर मनुष्य अपने हृदय में उसको देखते इन्हीं को नित्य सुख है। दूसरों को नहीं।

(कठवल्ली ५। १२।)

(२०) जो अनित्य देहों में नित्य है। चेतन प्राणेन्द्रियों का चेतयिता है। जो एक होकर बहुतों की कामना पूरा करता है। इस परमात्मा को जानता है। उसी को नित्य शान्ति है। दूसरे को नहीं।

(कठवल्ली ५ । १३ ।)

अच्छा, वह परमात्मा जीवों की नाईं क्या हाथ पैर से काम करता है?

उत्तर—

(२१) वह बिना हाथ पैर का है। पर चलता है और पकड़ता है। वह बिना आँख का है पर देखता है। बिना कान का है पर सुनता है। वह जगत् को देखता है पर उसका जाननेवाला कोई नहीं है। ब्रह्म के जाननेवाले उसको पुराण आदिपुरुष कहते हैं।

(श्वेताश्वतर ३ । १९)

(२२) वह परमात्मा सबके कानों का कान है। मन का मन है। बोली की बोली है। प्राण का प्राण है। आँख की आँख है। उसको जो जानता है वह धीर है, जब प्राणी इस लोक को छोड़ कर चला जाता है तब जन्म मरणादि के अधीन नहीं होता।

(केनोपनिषद् १ । २)

(२३) ब्रह्म से सूक्ष्म दूसरा कोई नहीं है। न उससे स्थूल दूसरा कोई है। न उससे कोई कनिष्ठ है न ज्येष्ठ है। उद्यान में सूखे हुए वृक्ष की नाईं सब स्वर्गादि लोकों में वह खड़ा है। उस पुरुष से यह सब विश्व भरा हुआ है।

(श्वेताश्वतर ३ । ९)

(२४) ब्रह्म को छोड़ कर दूसरा कोई न करनेवाला है, न देखनेवाला है, न विचार करनेवाला है, न जानने वाला है। वही तुम्हारा हृदयस्थ अन्तर्यामी जन्ममरण-रहित आत्मा है।

(बृहदारण्यक ३ । ७ । २३)

टिप्पणी—जीवों के कर्म्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय बुद्धयादि सबका अधिष्ठाता आ ब्रह्म-स्तम्बपर्य्यन्त प्राणियों का हृदयस्थ परिचालक ब्रह्म है। तथा च गीतायाम्—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। १८। ६१।

आगे की श्रुति में ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का वर्णन है।

(२५) जिससे ये सब भूत (वस्तु) उत्पन्न हुए हैं। जिसके हेतु से जीव जीते हैं। जिस में लीन हो जाते हैं। तन्मय होते हैं। उसको ब्रह्म जानो।

(तैत्तिरीय ३ । १ । १)

टिप्पणी—स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण दो प्रकार के लक्षण होते हैं। इन्हीं दो लक्षणों से वस्तु-स्वरूप का बोध होता है।

जब वस्तु का स्वरूप ही लक्षण है तब उसको स्वरूप-लक्षण कहते हैं। जैसे सत्यं ज्ञानमनन्तं यह ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण है।

जगत्-जन्मादि-कारणत्वं यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। स्वरूप लक्षण से जिज्ञासु को उतना वस्तु बोध में सहारा नहीं मिलता, जितना तटस्थ लक्षण से।

घट को कलश कहने से जिज्ञासु को क्या पता मिल सकता, यदि उसने कलश को न देखा हो। पर ऐसा उसे समझावे कि विशिष्ट आकृति-युक्त जलपात्र को घट कहते हैं तो उस वर्णन के सहारे से पता लगता है।

(२६) वह मनोरूपी परमेश्वर हृदय में स्थित होकर प्राणवायु और शरीर को चलाता है। उस ब्रह्म को ज्ञानी लोग अच्छी तरह निर्णय करते हैं कि वह आनन्द स्वरूप अविनाशी है॥

(मुण्डक २ । २ । ७ ।)

भला, नारायण तो सर्वत्र हैं पर देख क्यों नहीं पड़ते॥

इस प्रश्न का उत्तर।

(२७) ब्रह्म सब वस्तु में गुप्त रहते हैं। प्रकट नहीं होते। हाँ सूक्ष्म-दृष्टि जिन की है वे अपनी सात्विकी सूक्ष्म बुद्धि से उनका अनुमान करते हैं।

(कठवल्ली ३ । १२)

आगे की श्रुति में यह कहना है कि स्वतन्त्र एक ब्रह्म ही हैं—और सब उनके अधीन है—

(२८) ब्रह्म के भय से वायु बहता है। उन्हीं के भय से सूर्य्य उगता है। उन्हीं के भय से इन्द्र और अग्नि और पाँचवाँ देवता यमराज दौड़ते हैं॥

(तैत्तरीय २ । ८ । १)

अब कहते हैं कि नारायण का शरण तरने का बड़ा उपाय है।

(२९) जिन्हों ने ब्रह्मा को पहले उत्पन्न किया और वेदों को उसके पास पहुँचाया उस श्रीभगवान् का शरण लेता हूँ। वह मेरी बुद्धि को प्रकाश करते हैं।

(श्वेताश्वतर । ६ । १८)

३०) श्रीभगवान् विश्व के आत्मा हैं। हर एक वस्तु में स्थित हैं। वह हैं एक पर बहुत देख पड़ते हैं। जैसे एक चन्द्र जल में बहुत देख पड़ता है॥

(३१) वह श्री भगवान् एक शान्तरूप सब चञ्चल-स्वभाव प्राणियों के भीतर बाहिर विराजते हैं।

उसको सदा अनुक्षण नमस्कार।

(३२) वही अविनाशी पवित्र करने वाला है, वही सर्वोत्कृष्ट है। उस अविनाशी ब्रह्म को जो जानता है वह पूर्ण-काम होता है।

(मैत्रेयी ६ । २ ।)

(३३) वह सत्य और आनन्दस्वरूप प्रकाशवान् कर्त्ता ईश्वर वेद का कारण पुरुष है। उसको जानने हारा पुण्य और पाप दोनों को दूर कर उस अविनाशी सूक्ष्मतम ब्रह्म में सब विश्व को एक रूप देखता है।

(३४) वह ब्रह्म सङ्कल्प-विकल्प-रहित है। हृदय में स्थित है। अपरिमेय है। अगम्य है। उत्कृष्ट है। उसमें विद्वान् अपने चित्त को प्रविष्ट करे।

वह निराधार निरञ्जन लक्षणों से अनुमेय है।

(मैत्रेयी ६। १६)

(३५) अग्नि से जैसे स्फुलिङ्ग बाहर निकलता है, सूर्य्य से जैसे किरण। इसी तरह ब्रह्म से प्राणादि यथाक्रम बाहर निकल आते हैं।

(मैत्रैयी। २१)

(३६) वह पुरुष प्रकाशस्वरूप कलेवर-रहित बाहर भीतर स्थित जन्मादि षड्विकार-रहित नाशरहित सङ्कल्प-विकल्प-रहित निर्मलस्वरूप पुरुषोत्तम है।

(मुण्डक २। २। २।)

टिप्पणी—पुरि देहे शेते इति पुरुषः—हर एक जीव अपने अपने देह में अधिष्ठित है इस कारण पुरुष कहलाता है।

और विश्व देह में अधिष्ठित परमात्मा भी पुरुष पदवाच्य है। हाँ, वह उत्तम पुरुष है, इसी से उनका नाम पुरुषोत्तम है।

भगवद् गीता अध्याय १६। १७। १८। १९। श्लोक से मिलान कीजिए॥

(३७) हे विद्वज्जन! उस ब्रह्म को जानो। वह देवादि-तृण-पर्य्यन्त सब छोटे बड़े का पूजनीय है। अथवा वह सत् भी है असत् भी है। बुद्धि के बाहर है सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। वह वैश्वानर की नाईं ज्वाला-युक्त है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म उसमें सब ब्रह्माण्डादि लोक और लोक-वासी लोग स्थित हैं॥

(मुण्डक २। २। २।)

टिप्पणी—मूल में सदसद् वरेण्यं है। टीका में एक अर्थ यह है कि वह सत् और असत् और वरणीय है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सदसता वरणीयम्॥

चूंकि वह सदसत् दोनों कहा गया है। इसी से तो विज्ञानाद् परं भी वह है। मनुष्य-बुद्धि के अगोचर है। अनिर्वचनीय है॥

(३८) हे शान्त जिज्ञासु! वही अविनाशी ब्रह्म है। वह प्राण अर्थात् जीव है। वाक् है मन है। आधिदैविक और आधिभौतिक देह है। वह सत् दिकालादि से अपरिच्छिन्न ज्ञान का विषय है।

(मुण्डक २। २। २)

(३९) उस चिद्रूप ब्रह्म में भूर्भुवः और स्वर् लोक स्थित हैं। और मन और प्राण भी। उसी को एक आत्मा जानो और दूसरी बात सब छोड़ दो। वही मोक्ष का सुगम मार्ग है।

(मुण्डक २। २। ५)

टिप्पणी—इसी प्रपत्ति मार्ग का उपदेश गीता में चरम मन्त्र से श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को उपदेश किया है।

सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥
अहं त्वासर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(अ० १८ । ६६)

एष निष्कंटकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः ॥

इत्यादि वचन पाये जाते हैं ॥

(४०) वह परमेश्वर सर्वज्ञ है, सर्व व्यापी है। जिसकी महिमा चतुर्दश लोक में प्रकट है। वह अपने राजधानी शुद्ध हृदयाकाश में विराजता है।

(मुंडक २ । २ । ७)

टिप्पणी–सर्वज्ञ और सर्वविद् यह दो विशेषण हैं। इसी से टीकाकार ने सर्वविद् का अर्थ सर्वव्यापी दिया है।

(४१) प्रकाशस्वरूप ब्रह्मपुर अर्थात् हृदयाकाश में स्थित वह शुभ्र निर्मल सूर्य्यादि का ज्योतिः स्वरूप ब्रह्म है। उसको आत्मज्ञानी जानते हैं।

(मुण्डक २ । २ । ६)

(४२) यह चैतन्यात्मा सब वस्तुओं में विराजता है। और उत्पन्न जीवों का ज्ञानदाता है। अतिवाद नहीं करता। आत्मा ही से लीला करता है। आत्मा ही में मगन रहता है। वह क्रियावान् है। अर्थात् सर्वकर्त्ता है। वेदज्ञों का पूज्य है ॥

(मुण्डक ३ । १ । ४)

अब जिज्ञासु का प्रश्न है कि ऐसे चैतन्यात्मा ब्रह्म को लाभ करने का कोई उपाय भी है ?

उत्तर—

(४३) सत्य से, तपश्चर्य्या से, अच्छे ज्ञान से, ब्रह्मचर्य्य से, ब्रह्म का सदा लाभ हो सकता है, इस शरीर में ज्योतिः रूप स्वच्छ पुरुष है। दोषरहित यत्नशील संयमी उस को ज्ञान-दृष्टि से देखते हैं ॥

(मुण्डक ३ । १ । ५)

टिप्पणी—"सत्यं च समदर्शनम्" इस परिभाषा से समदृष्टि का नाम सत्य है। सत्य में विषम दृष्टि नहीं पाई जाती है।

ब्रह्मचर्य्य का अर्थ टीकाकार ने इस तरह किया है। ब्रह्मार्पणमेव चर्य्या सर्वकर्म्म ॥ अर्थात् जो कुछ कर्म्म करे सब ब्रह्म को अर्पण करे। अथवा ब्रह्म ही की चर्चा। सदा ब्रह्म-गोष्ठी में व्याप्त रहना ही ब्रह्मचर्य्य है, अथवा ब्रह्मण्येव चर्य्या गतिर्येषां ते सन्तः। ब्रह्मचर्य्येण सत्सङ्गेनेतियावत्। ब्राह्मणों का सत्सङ्ग ब्रह्मचर्य्य का बोधक है।

(४४) सत्य ही का जय है, मिथ्या का जय नहीं होता। सत्य ही ब्रह्ममार्ग को लेजाता है। निष्काम ऋषि लोग सत्य के रास्ते चलते हैं। उस मार्ग में सत्यादि उपाय-समूह का परम कारण ब्रह्म है।

(४५) जो राजादिक पृथ्वी पर देख पड़ते हैं। जो स्वर्ग के अधिपति इन्द्रादि सुन पड़ते हैं। एक नारायण सब को भीतर बाहर से व्याप कर स्थित हैं॥

टिप्पणी—नराणामयनं यस्मात् तेन नारायणः स्मृतः॥

(वायुपुराणे आनन्दाश्रममुद्रित ५। ३८।)

भगवान जीवों के आश्रय हैं। गति हैं। इसलिए परमेश्वर के हज़ारों नामों में एक नाम नारायण भी है॥

अब जिज्ञासु का प्रश्न यह है कि उस नारायण का स्वरूप क्या है?

उत्तरः—

(४६) मन और वचन दोनों वहाँ नहीं पहुँचते। उससे हट आते हैं। जो उसको आनन्दस्वरूप जानते हैं वे किसी से नहीं डरते हैं॥

(तैत्तिरीय २। ४। १॥ २। ६। १।)

टिप्पणी—डर तो दूसरे से होता है। जब ज्ञानी को आनन्दमय ब्रह्म छोड़ और दूसरा कुछ भासता ही नहीं तब उसको भय किस से होगा॥

(४७) भला ब्रह्मधाम कैसा है? यह प्रश्न जिज्ञासु के मन में आया।

उत्तर—जिस स्थान की प्रशंसा सब वेद करते हैं। जिस पद की प्राप्ति करने के लिये सब प्रकार की तपश्चर्य्या को करते हैं। जिस पद को कामना करके ब्रह्मचर्य्य का पालन करते हैं उस स्थान को संक्षेप रूप से मैं कहता हूँ॥

(कठवल्ली १। २। १५।)

टिप्पणी—प्रतिज्ञा तो श्रुति में की गयी। पर पूरी श्रुति यहाँ नहीं उद्धृत की गयी। इस कारण पाठकों को उत्तर नहीं मिला। मूल उपनिषद के देखने से रहस्य खुलता है। संग्रहकार और टीकाकार दोनों ने मन्त्र को प्रकट नहीं किया। गुरुमुख से ही मन्त्रराज का उच्चारण उसका श्रवण और अर्थज्ञान होता है यह प्राचीन शैली है॥

(४८) यह आलम्बन (आश्रय) श्रेष्ठ है। यह आश्रय बड़े से भी बड़ा है। इसका ज्ञान प्राप्त कर साधक ब्रह्मधाम में सत्कृत होता है।

(४९) वह (ब्रह्म) बैठा हुआ दूर चला जाता है। लेटा हुआ सब ओर पहुँच जाता है। उस सदानन्द देव को उसको छोड़ और कौन जान सकता है।

(कठवल्ली १। २। २०।)

टिप्पणी—सदामदं=सदानन्दं। यदि सदा+अमदम्।

ऐसा प्रश्लेष करें तो सदा अहङ्कार शून्य ऐसा अर्थ होगा॥

पर प्रायः सब मुद्रित उपनिषद् पुस्तकों में मदामदं ऐसा पाठ देखने में आता है। वह समद और अमद भी है। विरुद्ध धर्म्म का होना उसमें सम्भव है॥

(५०) वह अशरीर है-अन्य प्राणी की नाईं शरीरयुक्त नहीं है। और जाग्रदादि अवस्था से भी वह रहित है। वह व्यापक है। सर्वभूतान्तरात्मा है। उसको जो धीर जानता है उसको शोक मोह नहीं होता॥

(कठवल्ली १। २। २१।)

(५१) ब्रह्म शब्द-रहित हैं। स्पर्श-रहित हैं। रूप-रहित हैं। रसरहित हैं। गंध-रहित हैं। अविनाशी हैं। आद्यन्त-रहित हैं। देहादि स्थूल रूप से परे हैं। सनातन नित्य हैं। ब्रह्म को इस प्रकार निर्णय कर संसार से मुक्त होवे॥

(कठवल्ली १ । ३ । १५)

ब्रह्म-निर्णय का उपाय आगे की श्रुति में कहा है॥

(५२) अन्तरात्मा पुरुष अङ्गुष्ठ प्रमाण है। जीव के हृदय में स्थित है। जैसे मूंज में से सरकंडा निकालते हैं। वैसे अपने देह से, इस अन्तरात्मा को जाने और धैर्य से निकाले॥

(मुण्डक १ । ६ । १७)

टिप्पणी—अङ्गुष्ठ प्रमाण से सूक्ष्मता पाई जाती है॥

यहाँ मूंज से सरकंडा निकालने की नाईं आत्मा को देह से पृथक् निकाले॥

अन्य श्रुतियों में भी दूध से माखन काढ़ने की नाईं, तिल से तेल निकालने की नाईं देह से आत्मा को पृथक् करे, ऐसा उपदेश दिया गया है।

ध्यान निर्मथन से आत्मा को काढ़े। मैं देह नहीं हूँ। मैं देह से स्वतन्त्र हूँ॥ निरन्तर ऐसी भावना साधक करता रहे। तब स्फुरेगा कि मैं और ही कुछ हूँ। यह साढ़े तीन हाथ का हाड़-मांस का पुतला नहीं हूँ॥ देह के दुःख से अपने को दुःखी नहीं मानेगा। इसके नष्ट होने से अपने को नष्ट न समझेगा॥

(५३) ब्रह्म वाक्य से वर्णनीय नहीं है। पर वाक्य ब्रह्म ही की शक्ति से उच्चरित होता है। उस निराकार गूढ़ देव को ब्रह्म जानो, न कि इस (साकार) को जिस को लोग पूजते हैं।

(केन १ । ४)

(५४) जिसको मन नहीं समझ सकता। मन को बोध-शक्ति जिस ने दी है। उसी को ब्रह्म जानो। न कि जिसको लोग पूजते हैं।

(केन १ । ५ ।)

(५५) जिसको आँख से कोई नहीं देखता। पर जिसकी शक्ति से आँख को दृष्टि-शक्ति भई है। उसी को तुम ब्रह्म जानो, न कि जिसको लोग पूजते हैं।

(केन १ । ६ ।)

(५६) जो प्राण वायु से नहीं जीता पर जिसकी शक्ति से प्राण वायु को प्राण-शक्ति मिली है। उसी को तुम ब्रह्म जानो, न कि जिसको लोग पूजते हैं॥

(केन १ । ८ ।)

(५७) उसका स्वरूप दृश्यमान नहीं है। कोई इसको आँख से नहीं देखता। यह प्राण से, बुद्धि से और मन से बना हुआ समझा जाता है जो उसको वैसा जानते हैं वे ही जन्म-मरण से मुक्त होते हैं।

(कठवल्ली १ । ६ । ६)

(५८) यह प्रकाशमान् पुरुष लीला करते हैं। कभी जन्मते हुए देख पड़ते हैं, कभी गर्भ के भीतर, कभी गर्भ से गिरते देख पड़ते हैं। गर्भ-जाल से लिपटे हुए देख पड़ते हैं। उसने दिशा और विदिशाओं को उत्पन्न किया है

(महानारायण २ । १)

(५९) सब लोकों को व्याप्त करके, सब वस्तुओं को व्याप्त करके, सब दिशा और विदिशाओं को व्याप्त करके आदिकारण पाञ्चभौतिक विश्व का पालक ब्रह्म प्रकट हुए।

(महानारायण २ । १)

(६०) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में आत्मा एक ही है। भूर्भुवः स्वः तीनों लोक के ऊपर है। जिसने ब्रह्म को ऐसा जाना है उसका पुनर्जन्म नहीं होगा॥

(ब्रह्मबिन्दु ११)

(६१) एक बाल के अग्र-भाग के लक्ष भागों के बहुत भाग करो उसके भी टुकड़े का टुकड़ा करो। ऐसे सूक्ष्म से सूक्ष्म (अर्थात् अन्तिम) निरञ्जन भगवान् हैं॥

(श्वेताश्वतर ५ । ६)

टिप्पणी—ब्रह्म को निरञ्जन कहते हैं। क्योंकि उनमें अञ्जन (रङ्ग) नहीं है। ऐसे सूक्ष्म में कैसे रङ्ग लगता है। अणोरणीयान् श्रुति का यह समर्थन करता है। हाँ वह महतो महीयान् भी तो है, वह अवाङ्मनस-गोचर है।

(६२) भला ऐसी सूक्ष्म वस्तु को सर्वव्यापक करके कैसे माना है? सुनिये।

तिल में जैसे तेल, फूल में जैसे गंध, वैसे ही जीव के शरीर में बाहर भीतर से ब्रह्म स्थित हैं॥

(ध्यानबिन्दु ७)

(६३) फूल में जैसे गंध, दूध में जैसे घी, तिल में जैसे तेल, सुवर्णाकर के पाषाण में जैसे सोना।

(ध्यानबिन्दु ५)

टिप्पणी—भाषा के भजनों में भी ऐसे भाव देखने में आते हैं।

यथा। तोरे राम तोर में तू काहे न भजत रे॥ ज्यों दूधवा में रहतु है माखन बिन मथले कहु काहे न कढ़त रे। ज्यों तिलवा में रहत है तेल बिनु पेरले कहु काहे न लहतु रे॥ इत्यादि॥

(६४) इसी तरह सूत्र में मणि की नाईं सब वस्तु ब्रह्म में पिरोये हुए हैं। स्थिर बुद्धि मोहरहित ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म में स्थित है। अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त है॥

(ध्यानबिन्दु ६)

(६५) वृक्ष तो कला सहित जानो पर उसकी छाया तो कला रहित है। परमात्मा तो सब अवस्था में स्थित है।

(ध्यानबिन्दु ८)

टिप्पणी—कला का अर्थ अंश है। वृक्ष के ते मूल शाखा, पत्रादि ते कला हैं। पर उसकी छाया में अंश नहीं है। ब्रह्म में दोनों धर्म्म हैं अणोरणीयान् महतो महीयान् की नाईं विरुद्ध धर्म्म का समावेश ब्रह्म ही में हो सकता है।

भला बहुत आत्मा न हों पर दो का ते उल्लेख पाया जाता है ?

(६६) दो सुन्दर पक्ष वाले पक्षी साथी मित्र एक ही पेड़ पर प्रीति से वास करते हैं। उन दोनों में एक तो अच्छे स्वाद का फल खाता है। दूसरा नहीं खाता, केवल देखता रहता है।

(मुण्डक ३ । १ । १ श्वेताश्वतर ४ । ६)

टिप्पणी—मूल में समान शब्द आया है, समान का अर्थ तुल्य अर्थात् एकही है। पर समान का अर्थ मान-सहित भी हो सकता है।

अर्थात् जीव तो देह पर अभिमान रखता है। ब्रह्म का देह में अभिमान नहीं है। चैतन्यांश साधारण धर्म्म है। अभिमान-शून्य जब जीव हो जायगा तब वह भी भोग-रहित होकर ब्रह्म भाव प्राप्त करेगा। जब तक अभिमान् है तब तक भेद रहेगा। चिड़ियों के दृष्टान्त से जीव-ब्रह्म का वर्णन किया है—

अब आगे की श्रुति से भी आत्मैक्य का प्रतिपादन करते हैं॥

(६७) जन्मरहित प्रकृति रक्त, श्वेत कृष्ण वर्ण है। अर्थात् रजः, सत्व और तमो-गुणमय है। एक रूप के बहुत सन्तान उत्पत्ति करती है।

अजन्मा पुरुष इस प्रकृति के साथ साहचर्य्य कर फिर इसको त्याग देता है।

टिप्पणी—इस श्रुति में रूपक से पदार्थ-विचार भया है।

अजा का अर्थ बकरी।

अज का अर्थ बकरा॥

तीन रंग की एक विचित्र बकरी बहुत बच्चे जनती रहती है। बकरा संसार-सुख को सेवन कर अलग हट जाता है।

इस प्रकार बकरी बकरा के रूपक से प्रकृति-पुरुष की लीला को समझाया है। सबको कदाचित् यह भद्दा रूपक न रुचेगा॥

कभी कभी अश्लील असत् श्लेषोक्ति का भी प्रयोग कोई २ ग्रन्थकार कर बैठते हैं॥

देखिये हठ प्रदीपिका में लिखा है॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनीय।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्॥

'भला योगग्रन्थ में ऐसे विधान का औचित्य क्या है। यदि इसका शुद्ध अर्थ वहीं न लिखा होता तो पढ़ने वाले बहक जाते॥

इड़ा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली॥

और भी इसी प्रकार का बीभत्स दृष्टान्त लीजिये।

गोमांसं भक्षयेद् यस्तु पीत्वा चामरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥

इसका अर्थ तो यह है।

गोशब्देनोदिता जिह्वा तद्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥
जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्राद् भवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥

अभक्ष्य विधान और अपेय विधान से तो बचे। पर ऐसे व्यर्थ वाक्य-प्रयोग से क्या उत्कर्ष लाभ हुआ?

अब आगे ब्रह्मजिज्ञासा का उद्देश्य कहते हैं॥

(६८) भोजन सामग्री सम्पादन के लिये वर्णाश्रम धर्मोचित व्यवहार कर्म्म करना चाहिये॥ भोजन का प्रयोजन तो प्राणधारण है॥

जीने का उद्देश्य तत्त्वज्ञान का अनुसन्धान है। तत्त्वज्ञान का प्रयोजन यह है कि फिर जन्म न होवे॥

अब कहते हैं कि तत्त्वज्ञान सुलभ नहीं है॥

(६९) बहुतेरों ने तो परमेश्वर को सुना तक नहीं। औरों ने तो सुना। पर नहीं जाना। बोलने वाले कभी कदाचित् देखने में आते हैं। ब्रह्मज्ञान लाभ करने वाले को महाकुशल होना चाहिये॥

टिप्पणी—सगुण ब्रह्म को जान कर निर्गुण उपासना में तत्पर होवे। ऐसे साधक बहुत कम मिलते हैं।

अब प्रश्न यह है कि जब ब्रह्मनिर्णय इतना दुर्लभ है तो उसके पीछे पड़ने में कौन सा खिंचाव है?

(७०) स्थूल सूक्ष्म ब्रह्म का निर्णय जब होजाता है तब हृदय के मोह और शोक के पाश कट जाते हैं। सब प्रकार के सन्देह दूर होजाते हैं। ब्रह्म के सब कर्म्मों का क्षय हो जाता है। अर्थात् कर्म्म-फल उसको भोगना नहीं पड़ता॥

(मुण्डक २।२।८।)

(७१) जिस पुरुष को यह धारणा हुई है कि मुझे ब्रह्म का बोध नहीं हुआ। समझना चाहिये कि उसको ज्ञान होगया है। जिसने मान लिया कि मैंने ब्रह्मबोध कर लिया है उसे समझना चाहिये कि वह अभी तक नहीं पहुँचा॥

अपने को जिसने ज्ञानी मान लिया है,। उसने अभी तक तत्त्व नहीं पाया। जिसने समझा है कि मैं नहीं जानता वही ज्ञानी है॥

(केन ११)

टिप्पणी—तात्पर्य्य यह है कि जो मन-मोदक से अपना पेट भरलेते हैं, और जिनको ब्रह्मज्ञानी का घमंड आगया है उनकी निन्दा इस श्रुति में पाई जाती है ॥

(७२) जब पुरुष के हृदय की सब कामनायें छूट जाती हैं तब वह अमर हो जाता है। यही ब्रह्म का लाभ का होजाना है।

(कठ २ । ६ । १४ ।)

टिप्पणी—अमर हो जाता है—अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा होजाता है।

हाँ, ब्रह्म दुर्ज्ञेय है। तो कदाचित् साधक निराश होजावे इस लिये आगे की श्रुति में कुछ आश्वासन भी दिया गया है ॥

(७३) ब्राह्मण निष्काम यज्ञ करके, दान करके, तपश्चर्य्या करके ब्रह्म-ज्ञान साध सकते हैं।

टिप्पणी—मूल में अनाशकेन यह विशेषण पद आया है। उसका अर्थ नाशरहित है। सकाम यज्ञादि का फल नश्वर है। पर निष्काम होकर करे तो उसका फल स्थायी होता है। इसी से कहा है कि निष्काम यज्ञादि से अमरत्व को देने वाले ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है ॥

(७४) दो ब्रह्म को जानना चाहिये, शब्द ब्रह्म और पर ब्रह्म ॥ मनुष्य शब्द-ब्रह्म में निपुण होकर परब्रह्म को लाभ करते हैं।

(विन्दुब्रह्म १७)

टिप्पणी—शब्द-ब्रह्म का अर्थ है वेद, जब मनुष्य वेद, शास्त्र में पारंगत होता है तब परब्रह्म के लाभ में उसकी योग्यता होती है।

अब ब्रह्मज्ञान का सुगम उपाय आगे की श्रुति में बताया गया है।

(७५) जब पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन निकाम होकर क्रिया करते हैं, और बुद्धि भी इधर उधर बहुत नहीं दौड़ती है। ऐसी अवस्था को परम गति कहते हैं।

(कठ ६ । १०)

टिप्पणी—पाँच ज्ञानेन्द्रिय के कहने से पाँच कर्मेन्द्रिय की भी प्राप्ति हो गई। अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय और मन और बुद्धि ये सब स्थिर होकर काम करते हैं। बिना निष्काम भये स्थिरता कहाँ?

योगाभ्यासियों के लिये ब्रह्म मार्ग का दिग्दर्शन।

(७६) प्राण (जीव के देह में) अनेक नाड़ियाँ हैं जो (प्राण) हृदय में दीप की नाईं प्रकाश कर रहा है। नाड़ियाँ बहुत रङ्ग की हैं। सफ़ेद, काली, गाढ़ी, नील, कपिला, थोड़ी लाली लिये हुए।

(मैत्री ६ । ३०)

टिप्पणी—हज़ारो नाड़ियाँ हृदय से देह में ऊपर नीचे चारों ओर फैल गई हैं। उनमें एक प्रधान सुषुम्णा नाम की नाड़ी ऊपर की ओर गई है। इसी नाड़ी के द्वारा प्राणात्मक जीव सूर्य्यलोक भेद कर प्राण भाव को त्याग कर मनोभाव को भी

अतिक्रम कर ब्रह्मभाव प्राप्त होता है। तब साधक को यह ज्ञान पड़ता है कि मैं ब्रह्म हूँ। इस रहस्य को योगाभ्यासी कुछ समझेंगे।

(७७) समान वृक्ष पर जीव असमर्थ होकर शोक मोह में डूबा है। पर जब सब के पूजित भगवान् को और उसकी महिमा को देखने लगता है तब शोक-रहित हो जाता है।

टिप्पणी—६६ संख्या की श्रुति में द्वौ सुपर्णौ इत्यादि रूपक से जीव-ब्रह्म का भेद दिखाया गया है। उसी के साथ की यह श्रुति है। अभिमान-युक्त देही शोक मोहादि से सन्तप्त रहता है। जब तक अहम्भाव है तब तक हाय हाय करता रहता है। जब भक्ति के उद्रेक से अथवा ज्ञान के उद्रेक से भगवद्दर्शन उसको भया। तब भगवच्छरण प्राप्त होकर या भगवन्मयत्व को प्राप्त होकर शोक से छूट जाता है। अष्टावक्र-गीता का एक श्लोक टीका में उठाया है। वह यह है।

अहं कर्त्तेत्यहंमान महाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव ॥

जीव अभिमानी बन कर मैं कर्त्ता हूँ ऐसे अभिमान रूप काले सांप से दंशित होता है। मैं कर्त्ता नहीं हूं ऐसा विश्वास रूप अमृत पान कर विष नष्ट कर जीव सुखी होवे। अतएव अहन्ता-त्याग ही ब्रह्मप्राप्ति का महान् उपाय है।

(७८) न नित्यनैमित्तिक कर्म्म से, न पुत्रादि के श्राद्धादि क्रिया से, न धन-साध्य यज्ञादि से जन्ममरण छूटता है। केवल अहन्ता के त्याग ही से छूटता है।

ब्रह्म स्वर्ग से परे अवस्थित एकान्त स्थान में विराजते हैं। वहां केवल यति लोगों का प्रवेश है।

(७९) जिनका चित्त निर्मल है। जिन्होंने वेदान्त-ज्ञान से परमार्थ को निर्णय कर लिया है। ऐसे यति संन्यास योग से मुक्त होकर कल्पान्त काल में ब्रह्मलोक को पहुंच जाते हैं।

टिप्पणी—मूल में परान्तकाले यह पद आया है। इसका शब्दार्थ कल्पान्त काल है, जब ही अहन्ता का विनाश भया, तब ही ज्ञानी का कल्पान्त काल आ पहुंचा समझना चाहिये।

(८०) जब साधक को यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि मैं निष्कल, निर्विकल्प, निरञ्जन, ब्रह्म हूं तब वह ब्रह्मभाव को पहुंच जाता है।

टिप्पणी—निष्कल पद पहिले आ चुका है। जिसका अंश नहीं हो सकता, अखण्ड।

निर्विकल्प जिस अवस्था में ज्ञातृ ज्ञेय, ज्ञान का एक भाव होता है वह निर्विकल्पावस्था है।

निरवच्छिन्न एकतानभाव को भी निर्विकल्पभाव कहते हैं।

निरञ्जन। जिसको कोई रङ्ग नहीं लगा।

ब्रह्म के इन भावों का अनुभव ब्रह्मज्ञ ही को है।

(८१) न मृत्यु, न जन्म, न जन्म का बन्धन, न यम-दण्ड, न मोक्ष की इच्छा, न मुक्ति (ब्रह्मज्ञ को भावता है) यही परमार्थ-भाव है।

टिप्पणी—ब्रह्म-भाव का यह स्वरूप-कथन है।

सप्तम भूमिका पर जब साधक पहुँच जाता है तब यह दशा होती है।

(८२) जैसे घी दूध में गुप्त रहता है, ऐसे ही प्रत्येक जीव में ब्रह्म गुप्त है। जैसे मथन करने से दूध से घी कढ़ता है, वैसे मनोरूपी मंथन-दण्ड से सतत मथन करना चाहिए।

टिप्पणी—(६३) श्रुति की टिप्पणी में हिन्दी भजन को देखिए। अब कैसे मथन करना चाहिए उसका उपदेश करते हैं।

(८३) वासुदेव सब वस्तुओं में वास करते हैं, सब वस्तुओं में वर्त्तमान हैं, सब पर अनुग्रह करते हैं। सो वह मैं ही हूँ।

(ब्रह्मविन्दु)

टिप्पणीः—उपासक का उपास्य के साथ तादात्म्य होना यही पराभक्ति है। "सोऽहं" मन्त्र का अजपाजप भी मन्थन का प्रकारान्तर है।

भक्तिमार्ग ग्रैार ज्ञानमार्ग अन्त में जाकर एक जगह मिला है, इसके विपरीत रास्ते चलनेवाले की निन्दा आगे की श्रुति में है।

(८४) जो आत्मघाती हैं वे मरने के पीछे उस नरक-लोक को जाते हैं, जहां सूर्य्य का प्रकाश नहीं होता—जहां घना अँधेरा है।

(ईशावास्योपनिषत्)

टिप्पणी—आत्मघात से केवल देहघात का अर्थ नहीं है। पर जो आत्मा का अपलाप करते हैं। प्रत्यक्ष देह को केवल जानते हैं। देही जो देहाध्यक्ष है उसको उड़ा देते हैं। वे भी आत्मघाती हैं।

असुर्य्या ऐसा पाठ, अच्छे पुस्तकों में पाया जाता है। यह असुर्य्या शब्द सूर्य्य से सम्बन्ध नहीं रखता। पर असुर शब्द से बना है। आसुरी अर्थात् असुरों के वास योग्य नरक आत्मघाती का वासस्थान है।

(८५) हे सब लोग—तुम उनको नहीं जानते जिन्होंने ये सब जीवों को पैदा किया। अज्ञानता के कारण ब्रह्म से तुम्हारा पृथक्त्व (भेद) भया। इसी कारण तुम लोग जन्म मरण को भोगते हो। मोहान्धकार से अन्धे होकर तुम नित्य आत्मा को त्याग कर अनित्य देह को आत्मा कर के मानते हो। इसी से तुम निन्दा के योग्य हो। तुम लोग इन्द्रिय की तृप्त करने में लगे हो ग्रैार वेदोक्त विधि-निषेध से फँसे हो।

(यजुर्वेद)

टिप्पणी—सकाम कर्म्म-काण्डी को आवागमन का पचड़ा लगा ही रहता है। अब अभिमानियों की निन्दा आगे की श्रुति में की गई है।

(८६) अविद्या में डूबे हुए अपने को धीर और पण्डित मानने वाले। अहङ्कार के कारण तमोगुण के कारण से क्रोधी चकरियाते फिरते हैं और दूसरों को बहकाते हैं। जैसे कोई अन्धा अन्धे को राह दिखावे।

(मुण्डक १। २। ८ कठ १। २। ५)

टिप्पणी—मूल पुस्तक में जंघम्यमानाः पाठ है। पर प्रायः सब मुद्रित कठोपनिषत् में दंद्रम्यमानाः ऐसा पाठ पाया जाता है। जंघम्यमानाः का अर्थ टीका में यों दिया है। अहन्तयाऽनुक्षणं क्रोधयुक्ताः। अहङ्कार से सदा क्रोध से भरा।

अब दिखाया जाता है कि ब्रह्मज्ञ पुरुष सदा ही निर्दोष रहता है।

(८७) जैसे आग लगे पहाड़ पर न पशु, न पक्षी ठहरते हैं। वैसे ब्रह्मज्ञ पुरुषों में दोष नहीं रह सकते हैं।

(मैत्रायणी)

(८८) चित्त की प्रसन्नता के कारण शुभाशुभ कर्म्म से साधक बचता है। प्रसन्न चित्त होकर ब्रह्म में स्थित होकर साधक नित्य सुख को प्राप्त करता है।

(मैत्रायणी ४। ४)

(८९) चित्त ही संसार है। चित्त को बड़े यत्न से शुद्ध करे। जैसा जिसका चित्त वैसा ही मनुष्य तन्मय हो जाता है, यह रहस्य है। यही सदा से चला आता है।

(मैत्रायणी ३। ५)

टिप्पणी—श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है ?

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तंतमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

अर्थ। हे अर्जुन! जिस विषय को स्मरण करता हुआ मनुष्य अन्तकाल में शरीर छोड़ता है उसी विषय के संस्कार से वह वैसा ही जन्म पाता है।

(गीता ८। ६।)

योगवाशिष्ठ में

मुक्ताभीमानी मुक्तोहि।
बद्धो बद्धोभिमन्यपि॥
किंवदन्ती च सत्यैव।
या मतिः सा गतिर्भवेत्॥

इत्यादि ऐसे बहुत जगह इस का समर्थन है।

(९०) जिस तरह विषय की ओर जीव का चित्त लग जाता है वैसा यदि ब्रह्म में लगे तो कौन जीव बन्धन से न छूटे।

(मैत्रायणी ४। ५)

(९१) मन दो प्रकार का होता है। एक तो शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। कामना के छूजाने से अशुद्ध। कामना-रहित रहने से शुद्ध॥

(ब्रह्मबिन्दुः १)

(९२) मन को लय और विक्षेप से रहित कर जब स्थिर करे तब साधक अमनस्क दशा को पहुँचता है। वह तब ही परमपद ब्रह्मधाम प्राप्त करता है।

(मैत्री ६ । ३४ ।)

टिप्पणी—यहाँ मन को हंस के रूपक से वर्णन करते हैं। लय और विक्षेप मन के दो पक्ष हैं। निद्रा तो लय है। और विक्षेप है जागरण॥ जब मन के दोनों पक्ष कट गये तब मन की एक विलक्षण दशा होती है। उसको उन्मनी कहते हैं, अमनस्क उसका पर्य्याय है॥

चित्तवृत्ति-निरोध से जो अवस्था पातञ्जल योग के आदि सूत्र में दी है सो यही वेदान्त का उन्मनीभाव और प्रकार से कहा गया है। उस दशा को योग-मार्ग से कोई पहुँचते हैं। कोई वेदान्तप्रोक्त साधन से पहुँचते हैं।

(९३) सो मनोरोध ही उत्तम उपाय है—

तब लौं मन को रोकता रहे, जब लौं मनोवृत्ति का क्षय न हो जाय॥

यही ज्ञान है, यही मोक्ष है। बाक़ी तो पोथी का बढ़ाना है॥

(ब्रह्मबिन्दु ५ । मैत्रेयी ६ । ३४)

(९४) चित्तैकाग्र्य रूप समाधि से जिसका चित्त शुद्ध निर्मल होगया है और जो ब्रह्म में स्थित हुआ है उस सुख का वर्णन नहीं करते बनता। अन्तःकरण ही में उस का अनुभव कर साधक आनन्द करता है॥

(मैत्रायणी १ । ३४)

(९५) जैसे जब जल में जल मिल जावे, या आग में आग, या आकाश में आकाश। मिलने के पीछे एक दूसरे से अलग नहीं देख पड़ता। इसी प्रकार जब मन ब्रह्म में लीन हो जाता है तब पुरुष मुक्त होजाता है।

(मैत्रायणी ६ । ३४)

(९६) मन ही मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति का कारण है।

जब मन विषय में लगता है तब बद्ध है। जब विषय से अलग है तब मुक्त है॥

(ब्रह्मबिन्दु २)

(९७) जिसका मन अस्थिर है और जिसको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ उसके इन्द्रिय वशीभूत नहीं होते। जैसे बदमाश घोड़े सारथि की लगाम को नहीं मानते॥

(९८) जिस का मन स्थिर रहता है और जिसको तत्त्वज्ञान भया है। उस पुरुष के इन्द्रिय सब उस के वश में रहते हैं, जैसे सूधे घोड़े अपने सारथि की लगाम को मानते हैं॥

(कठ १ । ३ । ६)

(९९) जिसका मन तत्त्वज्ञान से हीन है वह सदा अशुचि रहता है। वह ब्रह्मधाम को नहीं पहुँचता। उसको जन्म मरण का पचड़ा लगाही रहता है।

(कठ १ । ३ । ७)

(१००) जिसने चित्त को जीत कर तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है। वह सदा शुचि है। वह ब्रह्मपद को प्राप्त करलेता है। फिर उसका जन्म नहीं होता ॥

(कठ १ । २ । ८)

(१०१) जिस मनुष्य का सारथि बुद्धि है। जिसका लगाम मन है। वह संसारमार्ग के पार उतर जाता है, जहाँ सर्वव्यापक ब्रह्म का परम धाम है ॥

(१०२) जैसे बिना ईंधन के आग अपने कारण पवन में ठंडी होजाती है। वैसे ही जब वृत्ति नष्ट होजाती है तब चित्त अपने कारण महाचैतन्य में लीन हो जाता है।

(मैत्री ६ । २४)

(१०३) ओंकार धनुष है। जीवात्मा बाण है। ब्रह्म पर बाण चलावे। बड़ी सावधानता से बेधना चाहिये। जैसे तीर लक्ष्य में धस जाता है वैसे जीवात्मा परमात्मा में प्रवेश कर के आप उसमें डूब जाय ॥

(मुण्डक २ । २ । ४)

(१०४) जब लक्ष्य सर्वव्यापक हो और बाण का मुख भी सब ओर हो। तीर चलाने-वाला तो सर्वत्र पहुंचा रहे। तब निःसन्देह लक्ष्य बिध जायगा ॥

टिप्पणीः—ब्रह्म व्यापक है। जीव तन्मय होने के लिये अपने सोपाधिक भाव को छोड़ कर ब्रह्म में डूबे। जब मिट्टी की भीत पर तीर पहुँच कर निशानी में घुसजाता है तब वह नज़र नहीं आता है। ऐसे ही जीवात्मा ब्रह्म में बैठ कर उसी में लीन हो जाता है।

(१०५) इन्द्रियों से आगे रूपरसादि विषय खड़े हैं। इन विषयों के आगे मन पहुंचा है। मन के आगे बुद्धि और बुद्धि के आगे महान् है ॥

(कठवल्ली ३ । १०)

(१०६) महान् से परे अव्यक्त (प्रकृति) है और प्रकृति के आगे पुरुष है। पुरुष से परे कोई नहीं। वही शेष सीमा है। वही परम लक्ष्य है।

अब शङ्का भई कि दोनों जीवात्मा और परमात्मा चिद्रूप हैं। अब यदि परमात्मा में जीवात्मा लीन होजाय तो ऐसा तो न हो कि परमात्मा की क्षति हो।

उत्तर—(१०७) जैसे घट-स्थित आकाश घट के भग्न हो जाने पर महाकाश में मिल जाता है। घटोपाधिक आकाश मात्र नष्ट हो जाता है। वैसे जीवोपाधिक चैतन्य मात्र अलग भासमान नहीं होता; पर साधारण धर्म्म चैतन्य का नाश नहीं होता है।

(ब्रह्मविन्दु १३)

(१०८) जैसे घट का नाना रूप है। वैसे जीव भी बहुत आकार के देह धारण किये हैं। नाश का स्वरूप उसको नहीं मालूम है पर महाचैतन्य परमात्मा को इस बात का बोध है।

(ब्रह्मविन्दु १४)

टिप्पणी—जीवात्मा और परमात्मा में इतना ही भेद है। एक तो अज्ञ है। दूसरा सर्वज्ञ है।

(१०९) वह अनिर्वाच्य ब्रह्म अदृश्य है। उसको कोई धर नहीं सकता। उसके कुलगोत्र नहीं हैं। उसको नेत्र नहीं। कान नहीं। न हाथ है, न पैर है। वह नित्य वर्त्तमान है। व्यापक है। सर्वज्ञ है। अति सूक्ष्म है। अविनाशी है, वह चराचर सृष्टि का कारण है।

(११०) जैसे पृथिवी में वृक्ष लतादि उत्पन्न होते हैं। जैसे जीते देह में सिर के बाल और देह के रोम बढ़ते हैं। वैसे अक्षर पुरुष (ब्रह्म) से नानाविध देव नर रूप विश्व उत्पन्न होता है।

टिप्पणी—यहाँ ब्रह्म विश्व के उपादान कारण माने गये हैं। नैयायिकों के मत में ईश्वर निमित्त कारण हैं। परमात्मा नित्य पदार्थ हैं। जैसे कुम्हार मिट्टी को नहीं पैदा करता पर मिट्टी से घट बनाता है वैसे ही ईश्वर बने बनाये परमाणु से सृष्टि को रचते हैं।

पर वेदान्त का मत है कि ब्रह्म ही से सब निकला और बना भी उन्हीं से। अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों कारण ब्रह्म ही हैं।

(१११) जो तपश्चर्य्या करते हैं, ब्रह्मचर्य्य की रक्षा करते हैं, जो सत्य का पालन करते हैं वे ही ब्रह्मलोक को पहुंचते हैं। जिनमें असत्य, छल, कपट, और दम्भ नहीं है उन्हीं के लिये ब्रह्म-धाम है।

(११२) उस परमात्मा में सब स्थित हैं। पृथिवी और उसका सूक्ष्मांश गन्ध। जल और उसका सूक्ष्मांश रस। तेज और उसका सूक्ष्मांश रूप। वायु और उसका सूक्ष्मांश स्पर्श। आकाश और उसका सूक्ष्मांश शब्द। आँख और देखने की वस्तु। कान और सुनने के शब्द, नाक और सूँघने की चीज़। रस और चीखने के खाद्य। चर्म्म और स्पर्श करने का द्रव्य। जिह्वा और बोलना। हाथ और पकड़ना। पैर और चलना। गुह्य देश और मलत्याग। जननेन्द्रिय और मैथुन का आनन्द। मन और मनन का विषय। बुद्धि और बुद्धि-विषय। अहङ्कार और अहङ्कार-विषय। चित्त और चित्त का विषय। तेज और प्रकाश करने का विषय। प्राण। और प्राण क्रिया। ये सब ब्रह्म में स्थित हैं।

(प्रश्न ४।८)

(११३) ब्रह्म ही देखता है। छूता है। सुनता है। सूँघता है। चीखता है। मनन करता है। समझता है। यही चैतन्य पुरुष है।

(११४) उस अशरीरी पुरुष की छाया नहीं होती। न रक्तादि वर्ण है। वह स्वच्छ, अविनाशी, चेतयिता है। सर्वज्ञ है। सब कुछ है।

(११५) जिस पुरुष के वर्णन में शब्द नहीं निकलता, उसी को परब्रह्म कह कर चारो वेद मान करते हैं। उसको जो सनातन समझते हैं वे जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं।

(११६) ब्रह्मविद् द्विज अपने ज्ञान नेत्र से ब्रह्मा से लेकर जड़ पदार्थ तक सब को एक ही शुद्ध निर्म्मल व्यापक ब्रह्म रूप देखते हैं।

(११७) ब्रह्म में यह चराचर जगत् पिरोया है। (समुद्र में बल्ला की नाईं उसी में क्षय हो जाता है।)

(११८) (देह में) ब्रह्म के चार (पीठ) स्थान हैं। नाभि, हृदय, कंठ और मस्तक। इन्हीं स्थानों में चतुष्पाद ब्रह्म विराजते हैं। जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जागरण में ब्रह्म। स्वप्न में विष्णु। सुषुप्ति में महेश। चतुर्थ पीठ में अक्षर ब्रह्म॥ वही सूर्य्य है। वही विष्णु, वह शिव। वह प्राण है। वह जीव है। वह अग्नि है। वह सदा जाग्रत् है। उन सब में ब्रह्म प्रकाशित हैं।

(ब्रह्मोपनिषत्)

पिछली श्रुति में सगुण ब्रह्म का वर्णन कर अब तुरीया के परे प्रतिष्ठित ब्रह्म का वर्णन करेंगे।

(११९) वह स्वतन्त्र अपने प्रकाश से विराजता है। वह अमनस्क अर्थात् मनोहीन है। बिना कान का है। बिना हाथ पैर का है, ज्योतीरूप है। उस तुरीयातीत धाम में कोई लोक लोक नहीं हैं। वेद वेद नहीं। देव देव नहीं यज्ञ यज्ञ नहीं, माता माता नहीं, पिता पिता नहीं, पतोहू पतोहू नहीं, चाण्डाल चाण्डाल नहीं। डोमड़ा डोमड़ा नहीं, श्रमण (बौद्ध संन्यासी) श्रमण नहीं। पशु पशु नहीं। एक ब्रह्म ही सभों में प्रकाशित है।

(ब्रह्मोपनिषत्)

(१२०) मनुष्य को रूप रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, मैथुन इन सब का ज्ञान ब्रह्म ही से होता है। ब्रह्म छोड़ और कुछ रह नहीं जाता है।

(कठवल्ली ४ । ३)

(१२१) जिस परब्रह्म से स्वप्न का आना और जागरित का अन्त मनुष्य देखता है। उस महाव्यापक को देख कर धीर मनुष्य को शोक नहीं होता।

(कठवल्ली २ । ४)

(१२२) ब्रह्म हंस हैं। पवित्र हैं, सनातन हैं, अन्तरिक्ष में विराजमान, हवनकर्त्ता हैं यज्ञस्थल में विराजते हैं, वह अतिथियों में, मनुष्यों में प्रकाशमान हैं। सत्य में विराजमान हैं। आकाशचारी हैं। जल में पृथ्वी में विराजमान हैं। सूनृत वचन में झलकते हैं। पर्वतों पर चमकते हैं।

(ऋग्वेद ४ । ५)

टिप्पणी—यह मन्त्र ऋग्वेद में आया है। (यजुर्वेद में १० । २४ । और १२ । १४ में आया है।) तैत्तिरीय आरण्यक १० । १० में भी है। कठोपनिषत् से तो यहाँ संगृहीत भया है॥

यह आदित्योपासना सम्बन्धी ऋक् सूर्य्यार्घ्य मन्त्र रूप मध्याह्न काल में पढ़ा जाता है, अर्थात् इस मन्त्र को पढ़कर ऋग्वेदी मध्याह्न में सूर्य्यार्घ देते हैं॥

पर सायणाचार्य्य ने और महीधर ने अपनी ऋग् वेद की और यजुर्वेद की टीका में ब्रह्म पर सम्बन्ध भी लगाया है। दीपिकाकार ने हंस का कई प्रकार अर्थ दिखाया है। सकल पाप और दुःख का हननकर्त्ता हंस है॥ क्षीर नीर का पृथक् कर्त्ता जैसा हंस पक्षी प्रसिद्ध है। ऐसा क्षीर जो आत्मस्वरूप है और नीर जो मायास्वरूप है इनका

पृथक् कर्त्ता ब्रह्म है। सूर्य्य के पक्ष में हंस सूर्य्य का नाम है क्योंकि वह गमनशील है। हन् धातु गत्यर्थक भी है॥

पौराणिक हंसावतार भी नारायण का हुआ है, सो हंस से उस अवतार की भी सूचना पाई जा सकती है। सूर्य्य के पक्ष में अन्तरिक्ष शब्द का अर्थ तो सहज ही है। पर ब्रह्म पक्ष में सदसत् यावद् वस्तु है। सब में विराजमान यह अर्थ है। दुरोणसत् सायनाचार्य्य ने दुरोण का अर्थ पाकशाला के अग्नि में विराजमान सत् ऐसा अर्थ दिया है। ब्रह्म पक्ष में वरणीय स्थान में बरसत्। आदित्य पक्ष में वरणीय मण्डल में विराजमान। अद्रिजा सूर्य्य पक्ष में उदयाचल से निकले हैं ऐसा अर्थ, गो शब्द पृथिवी वाचक है श्रोर रश्मि वाचक भी है। भाषा का अनुवाद प्रायः दीपिका के अनुसार किया गया है। गायत्री मन्त्र का जैसे सूर्य्य पर श्रोर ब्रह्म पर व्याख्यान होता है वैसे ही इस मन्त्र का भी।

(१२३) कोई शङ्का करे कि प्राण ही को मानें इस से पृथक् जीव की सत्ता को क्यों मानें ?

उत्तर—

न प्राण से, न अपान ही से मनुष्य जीता है। किसी दूसरे ही की शक्ति से मनुष्य जीते हैं। जिस पर ये दोनों प्राणापान ठहरे हैं।

(१२४) जिस पर यह विश्व ठहरा है, जो सब को व्यापे है, जिस पर देव लोग भी आश्रित हैं। वह भूत, वर्त्तमान श्रोर भविष्य कालरूप है। वह अविनाशी महाकाशरूप ब्रह्म है।

(महानारायण १ । २)

(१२५) ऋषि लोग कहते हैं, वह ब्रह्म पृथिवी आकाश श्रोर स्वर्ग को व्यापे है। उसके तेज से सूर्य्य चमकता है। वह समुद्र के बीच में है। उसी से सब जीव पैदा हुए हैं।

(महानारायण १ । ३)

(१२६) उसने सब जगत् को पैदा किया है। जल में, पृथिवी में सब पेड़ पत्तों पशु, मनुष्य चराचर जीव में वह बैठा है।

(महानारायण १ । ४)

(१२७) इस से अधिक सूक्ष्म श्रोर कोई नहीं है। न इससे कोई बड़ा है। यह नाना रूप धारण करता है। अव्यक्त (अप्रकट) है, विश्वरूप है, सनातन है। माया के घोर अन्धकार के बाहर है।

(१२९) वह अग्नि है। वह वायु है। वह जल है, वह सूर्य्य है, वह चन्द्रमा है। वह सदसत् का बीज है। वह प्रजा का सृजनहार है।

(महानारायण १ । ७)

(१३०) ब्रह्म चैतन्य रूप हैं। एक हैं निरंश हैं। विना शरीर के हैं। उपासकों के सुभीते के लिए उनका रूप माना जाता है।

(रामपूर्वतापिनी १ । ७)

(१३१) जैसे वट-वृक्ष के बीजं में बड़ा पेड़ सूक्ष्मरूप से बना बैठा है वैसे ही रामजी के बीज में यह चराचर जगत् बना हुआ बैठा है।

(रामपूर्वतापिनी १ । १५)

अब कहते हैं कि नाना नाम से ब्रह्म की प्रसिद्धि है पर वह एक है।

(१३२) वह ब्रह्मा है शिव, इन्द्र, अक्षर, परम स्वराट् हैं। वह विष्णु, प्राण, परमेश्वर हैं।

(महानारायण ११ । १३)

टिप्पणी—स्वराट् का अर्थ है जो स्वयं प्रकाशमान है। दूसरे के प्रकाश से नहीं चमकता। सूर्य्य चन्द्रमा नक्षत्रादिक ये सब भगवान् की ज्योति से चमकते हैं। पर भगवान् की ज्योति उनकी निज की है।

(१३३) वही सब है। जो हुआ है। जो होगा। वह सनातन (नित्य) है॥ उनको जो जानता है वह मृत्यु को जीत जाता है। मुक्ति का दूसरा रास्ता नहीं है॥

(कैवल्योपनिषत् ८)

(१३४) जो आत्मा में सब वस्तु देखता है। और सब वस्तु में आत्मा देखता है। वह ब्रह्म के पास पहुँचता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है॥

(कैवल्योपनिषत् १०)

(१३५) परब्रह्म परमात्मा चराचर जगत् के आश्रय हैं। आधार हैं। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हैं। नित्य हैं। तत्त्वों से परे है॥

टिप्पणी—साङ्ख्य में २५ तत्त्व की गिनती है। पुरुषोत्तम तो छब्बीसवाँ है।

(भगवद्गीता १५ । १८)

(१३६) जाग्रत् स्वप्न० सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का प्रपञ्च जिस ब्रह्म से प्रकाशित होता है—वह मैं हूं—इस बात का ज्ञान जब हुआ तब ज्ञानी सब बन्धन से छूट जाता है॥

(कैवल्योपनिषत् १७)

टिप्पणी—ब्रह्म से जो सब कुछ प्रकट हुआ है उसी को प्रपञ्च कहते हैं। जब जीव और ब्रह्म का ऐकात्म्य ज्ञान होता है तब जन्ममरण से छुटकारा होता है॥

(१३७) भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक इन तीनों लोकों में भोग, भोग की सामग्री और भोग करनेवाला—इन तीनों से न्यारा द्रष्टा चैतन्य आनन्दस्वरूप ब्रह्म मैं हूं॥

(कैवल्योपनिषत् १०)

(१३८) ब्रह्म पृथ्वी नहीं हैं। न जल हैं। न अग्नि हैं, न वायु हैं, न आकाश हैं॥ वह कलाहीन हैं अर्थात् निरंश हैं। वही एक है, दूसरा कोई नहीं। ऐसे ब्रह्म स्वरूप को जान कर॥

(कैवल्योपनिषत् २३)

(१३९) ब्रह्म का ध्यान करे कि वह द्रष्टा है। सत् और असत्—दो में एक भी नहीं कह सकते—वह परमेश्वर हैं। सर्वव्यापकहैं। भूमि की सृष्टि के पहले रहा और उसके संहार के पीछे रहेगा। इस विश्व का हवन उस ब्रह्म की करे। अर्थात् अपने समेत इस विश्व को ब्रह्म से पृथक् न समझे। अपने सब का उसमें होम कर देवे॥ यही महा ब्रह्म-यज्ञ है, यही ज्ञान-यज्ञ है॥

(कैवल्य—२४)

(१४०) वही ज्ञानी, वही योगी कहाता है जिसको ब्रह्मैक्य का पूर्णानन्द का अनुभव हुआ है। वह तब कृतार्थ होता है॥

(परमहंस ३)

(१४१) मुझी से सब कुछ पैदा हुआ है। मुझी में सब स्थित है। मुझी में लीन हो जाता है। मैं ही वह अद्वितीय ब्रह्म हूं॥

(कैवल्य १९)

सूक्ष्म से सूक्ष्म है। बड़ा से बड़ा है। सनातन भ्राजमान पुरुष मैं ही हूं॥

(कैवल्य २०)

(१४३) बिना हाथ पैर का हूं। मेरी शक्ति की सीमा नहीं है। बिना आँख देखता हूं, बिना कान के सुनता हूं। मैं ज्ञानस्वरूप हूं। मैं सब जानता हूं। पर मेर जानने वाला कोई नहीं है। मैं नित्य चैतन्य रूप हूं॥

(१४५) सब वेदों के द्वारा मैं ज्ञेय हूं, वेदान्तकार हूं, वेद का ज्ञाता हूं। न मुझ को पुण्य लगता है न पाप। न मेरा जन्म न मेरा नाश होता है। न मेरा देह है। इन्द्रिय, न बुद्धि।

(कैवल्य २२)

(१४६) जिस ने जान लिया है कि ब्रह्म विज्ञानरूप हैं और जिसका चित्त उस विज्ञान से नहीं गिर जाता। उसके देह का पाप सब छूट जाता है। उसका सब अभिलाष पूर्ण हो जाता है।

(१४७) उस को आत्मा करके जानना। सदा प्रकाशमान। अज्ञानता से पृथक् है। उसका बन्ध नहीं है। नित्य अद्वैत रूप है। आनन्द रूप है। उसी में सब स्थित है। उसका अज्ञान का अन्धकार दूर होगया है जिसका अहंभाव चला गया और होगया है।

(१४८) ब्रह्मज्ञ उन लोकों को पहुंचता है जहां वह जाना चाहता है। सब उसकी पूरी हो जाती है। अतएव समृद्धि के चाहने वाले आत्मज्ञानी की पूजा करें॥

टिप्पणी—यह फल श्रुति है।

(१४९) —जिसकी भक्ति इष्टदेव में है और अपने गुरु में समान रूप से है उस हात्मा का सकल मनोरथ पूर्ण होता है।

(श्वेताश्वतर ६ । २३)

(१५०) जो ब्रह्मज्ञ है, वह ब्रह्म है। उसके कुल में ब्रह्मज्ञान से रहित कोई नहीं दा होता है। वह शोक से रहित होता है। पाप से मुक्त रहता है। संसार के बन्धन छूट जाता है॥

(मुण्डक ३ । २ । ९)

टिप्पणी—यह फलश्रुति है॥

इति श्रीब्रह्मोपनिषत्सारसंग्रह-दीपिकाभाषानुवाद समाप्त॥
